ॐ

श्रीमद् राजचन्द्र-प्रणीत

भावनाबोध-मोक्षमाला

अन्तर्गत सिन्धुबिन्दुरूप

बारह भावना और बालावबोध शिक्षापाठ

पुस्तक प्राप्ति स्थल
श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल
चौकसी चेम्बर्स, खारा कुआ
झवेरी बाजार, बम्बई २.

प्रकाशक

रावजीभाई छगनभाई देसाई

परमश्रुत प्रभावक मंडल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला)

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास

प्रकाशक :
रावजीभाई छगनभाई देसाई ऑ० व्यवस्थापक
परमश्रुत प्रभावक मण्डल
(श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला)
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम
स्टेशन–अगास, पो० बोरीया
वाया . आणद (गुजरात)

नवीन आवृत्ति
प्रतियां २२५०

वीर सवत्	विक्रम सवत्	ईस्वी सन्
२४९६	२०२६	१९७०

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी-१

प्रकाशकीय

'श्रीमद् राजचन्द्र' वचनामृतका हिन्दी भाषान्तर श्री० पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ, ललितपुर द्वारा हो रहा है, जिसके पूर्ण होनेमें अभी पर्याप्त समय लग जाना सभव है। उसमेसे आरम्भिक 'मोक्षमाला' का भाषान्तर पहले छप जाय तो हिन्दी-भाषी जिज्ञासुओकी माँगको संतोष मिले, इसी हेतुसे इस 'मोक्षमाला' की हिन्दी आवृत्ति आश्रमके ज्ञान-खातेसे प्रगट करके मुमुक्षुओंके कर-कमलोंमें रखते हुए हमे अति आनन्द होता है।

'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थका हिन्दी भाषान्तर कराकर प्रगट करनेके सत्श्रुत-प्रचाररूप अति उपयोगी एव प्रशसनीय कार्यमें वाकानेर-निवासी स्व० श्री केशवलाल लीलाधर गाधीकी इच्छानुसार उनके सुपुत्र श्री हसमुखलाल केशवलाल गाधी द्वारा ६००१) रुपयेकी उदार भेंट आश्रमके परमश्रुतप्रभावक मण्डल-विभागको मिली है, अत सत्श्रुतके प्रति उनके इस प्रेम, आदर और भक्तिभावके लिए हम उनका अत्यन्त आभार मानते है। आशा है, उन्हे भी वचनामृतके प्रारम्भिक-भागरूप इस प्रकाशनसे अवश्य सन्तोष होगा।

इस प्रकाशनमे आहोर-निवासी श्रीमती मोतीबेन फूलचन्दजी बन्दाकी ओरसे ५०१) रुपये प्राप्त हुए है, इसके लिए उनका भी हम आभार मानते है।

संत-सेवक

रावजीभाई देसाई

'जिसने आत्माको जाना उसने सब कुछ जाना

—निर्ग्रन्थ प्रवचन

ज्ञान ध्यान वैराग्यमय,
उत्तम जहा विचार;
ए भावे शुभ भावना,
ते उतरे भवपार।

मुमुक्षुओंको मोक्षमार्गमे प्रगति करनेमें
सर्व प्रकारसे सहायक हो यही इस
प्रकाशनका हेतु है ।

ॐ

अहो सत्पुरुषके वचनामृत, मुद्रा और
सत्समागम ।
सुषुप्त चेतनको जागृत करनेवाले,
गिरती वृत्तिको स्थिर रखनेवाले,
दर्शन मात्रसे भी निर्दोष
अपूर्व स्वभावके प्रेरक,
स्वरूप प्रतीति, अप्रमत्त सयम
और
पूर्ण वीतराग निर्विकल्प स्वभावके
कारणभूत,
अन्तमे
अयोगी स्वभाव प्रगटकर
अनन्त अव्याबाध स्वरूपमे
स्थित करानेवाले ।
त्रिकाल जयवन्त वर्तो !

ॐ शाति शाति· शाति

—श्रीमद् राजचन्द्र

अनुक्रमणिका

भावनाबोध—द्वादशानुप्रेक्षास्वरूप-दर्शन

मोक्षमाला (बालावबोध)

शुद्धिपत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०	२३	अश्वादिककी	अश्वादिककी वृद्धि
३६	१४	उखाड	उघाड
५७	१५	शीळने	शीळ ने
६६	१५	में	मैं
७१	१४	यशाशक्ति	यथाशक्ति
७६	४	छाह	छाय
८७	१९	हीगी	होगी
८८	८	मिलतो हैं	मिलती है
९५	२	प्नवचन	प्रवचन
९५	१७	करते ये	करते थे ।
९६	१८	हे ।	है ।
९८	७	आयुवेंद	आयुर्वेद
९९	७	यज्ञ-यागदिककी	यज्ञ-यागादिककी
९९	८	हे	है
१०९	७	हे	है
१०९	१५	करते	कहते
११०	१७	रखे हे	रखे है
१११	२२	योजनाकी	योजना की
११२	२६	करता हे ?	करता हूँ ?
११५	११	इत्यादि सो	इत्यादि
११५	२१	व्रत	व्रत
११७	१६	पश्चाताप	पश्चात्ताप
११९	२०	विजली	बिजली
१२०	२३	पश्चाताप	पश्चात्ताप
१२२	१०	ईघनसे पूर दया	इंधनसे पूर दिया

भावनाबोध
मोक्षमाला

श्रीमद् राजचन्द्र वर्ष १६ वा

जन्म ववाणिया देहोत्सर्ग राजकोट

वि० स० १९२४, कार्तिक सुदी १५ वि० स० १९५७, चैत्र वदी ५

(गुज०)

भावनाबोध

(द्वादशानुप्रेक्षा-स्वरूपदर्शन)

उपोद्घात

सच्चा सुख किसमें है ?

चाहे जैसे तुच्छ विषयमे प्रवेश होनेपर भी उज्ज्वल आत्माओकी स्वाभाविक अभिरुचि वैराग्यमें प्रवृत्त होनेकी है। बाह्य दृष्टिसे जबतक उज्ज्वल आत्मा संसारके मायामय प्रपचमे दर्शन देते है तबतक इस कथनका सिद्ध होना क्वचित् दुर्लभ है। तथापि सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन करनेपर इस कथनका प्रमाण मात्र सुलभ है, इतनी बात नि सशय है।

एक छोटे-से-छोटे प्राणीसे लेकर मदोन्मत्त हाथीतक सभी प्राणी, मनुष्य और देवदानव इत्यादि सभीकी स्वाभाविक इच्छा सुख और आनन्द प्राप्त करनेकी है। इसलिए वे उसकी प्राप्तिके उद्योगमे लगे रहते हैं, किन्तु विवेक बुद्धिके बिना वे उसमे भ्रमको प्राप्त होते हैं। वे ससारमे विविध प्रकारके सुखोको आरोपित करते है, किन्तु सूक्ष्म अवलोकनसे यह सिद्ध है कि वह आरोप व्यर्थ है। इस आरोपको अनारोप करने वाले विरले मनुष्य विवेकके प्रकाश द्वारा अद्भुत किन्तु अन्य विषयको प्राप्त करनेके लिए कहते आये है। जो सुख भयसे युक्त है वह सुख नही, किन्तु दु ख है। जिस वस्तुको प्राप्त करनेमे महाताप है, जिस वस्तुके भोगनेमे इससे भी अधिक सताप है तथा परिणाममे महासंताप, अनन्त शोक और अनन्त भय समाये है उस वस्तुका सुख मात्र नामका सुख है अथवा वह सुख है ही नही। ऐसा होनेसे विवेकी लोग उसमे अनुराग नही करते। ससारके प्रत्येक सुख-

से सम्पन्न राजेश्वर होनेपर भी सत्य तत्त्वज्ञानका प्रसाद प्राप्त होने-
से, उसका त्याग करके योगमे परमानन्द मानकर सत्य मनोवीरतासे
अन्य पामर आत्माओको भर्तृहरि उपदेश देते हैं कि—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभय वित्ते नृपालाद्भयं,
माने दैन्यभय बले रिपुभयं रूपे तरुण्या भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥

भावार्थ—भोगमे रोगका भय है, कुलीनतामे पतन होनेका भय
है, लक्ष्मीमे राजाका भय है, मानमे दीनताका भय है, बलमे शत्रु-
का भय है, रूपसे स्त्रीको भय है, शास्त्रमे वादका भय है, गुणमे खल-
का भय है और कायापर कालका भय है, इस प्रकार सभी वस्तुएँ
भय युक्त है मात्र (ससारमे मनुष्योको) एक वैराग्य ही अभय है !!!

महायोगी भर्तृहरिका यह कथन सृष्टिमान्य अर्थात् समस्त
उज्ज्वल आत्माओको सदैव मान्य रखने योग्य है। इसमे समस्त तत्त्व-
ज्ञानका दोहन करनेके लिए इन्होने समस्त तत्त्ववेत्ताओंके सिद्धान्त-
का रहस्य और ससार-शोकके स्वानुभवका ज्योका-त्यो चित्र चित्रित
कर दिया है। इन्होने जिन-जिन वस्तुओपर भयकी छाया प्रदर्शित-
की है वे सब वस्तुयें ससारमे मुख्यतया सुखरूप मानी गई हैं।
ससारका सर्वोत्तम साहित्य जो भोग है वह तो रोग का धाम ठहरा।
मनुष्य उच्च कुलमे सुख मानता है, उसमे पतनका भय दिखाया।
ससारचक्रमे व्यवहारका ठाठ चलानेके लिए दडरूप लक्ष्मी है वह
राजा इत्यादिके भयसे भरपूर है, किसी भी कृत्यके द्वारा यशकीर्तिसे
मानको प्राप्त करना अथवा मानना ऐसी ससारके पामर जीवोकी
अभिलाषा है, किन्तु इसमे महादीनता या कगालपनका भय है। बल-
पराक्रमसे भी इसी प्रकारकी उत्कृष्टता प्राप्त करनेकी चाहना रही है,
किन्तु उसमे भी शत्रुका भय बना हुआ है। रूप-कान्ति भोगीके लिए

मोहिनीरूप है, किन्तु वहाँ उसे धारण करने वाली स्त्रियाँ निरन्तर भयान्वित हैं। अनेक प्रकारसे गूँथी गई शास्त्र-जालमे विवादका भय रहा है। किसी भी सांसारिक सुखका गुण प्राप्त करनेसे जो आनन्द माना जाता है वह खल मनुष्यकी निन्दाके कारण भय से युक्त है। जिसमे अनन्तप्रियता विद्यमान है, ऐसी काया किसी-न-किसी समय कालरूपी सिंहके मुखमे जा पडेगी इस भयसे परिपूर्ण है। इस प्रकार ससारके मनोहर किन्तु चपल साहित्य-साधन भयसे भरे हुए है। विवेकसे विचार करनेपर जहाँ भय है वहाँ मात्र शोक ही है। जहाँ शोक है वहाँ सुखका अभाव है और जहाँ सुखका अभाव है वहाँ तिरस्कार करना उचित ही है।

मात्र योगी भर्तृहरिने ही ऐसा कहा हो सो नही है। कालक्रमसे सृष्टिके निर्माण-समयसे लेकर भर्तृहरिसे उत्तम, भर्तृहरिके समान और भर्तृहरिसे कनिष्ठ ऐसे असंख्य तत्त्वज्ञानी हो गये हैं। ऐसा कोई काल अथवा आर्य देश नही है कि जिसमे तत्त्वज्ञानियोकी बिल्कुल उत्पत्ति न हुई हो। इन तत्त्ववेत्ताओने ससारसुखकी प्रत्येक सामग्रीको शोकरूप बताया है। यह उनके अगाध विवेकका परिणाम है। व्यास, वाल्मीकि, शकर, गौतम, पतजलि, कपिल और युवराज शुद्धोदनने अपने प्रवचनोमे मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश दिया है उसका रहस्य निम्नाकित शब्दोमे कुछ आ जाता है—

"अहो प्राणियो! ससाररूपी समुद्र अनन्त और अपार है। इसका पार पानेके लिए पुरुषार्थका उपयोग करो! उपयोग करो!!"

ऐसा उपदेश देनेमे इनका हेतु प्रत्येक प्राणीको शोकसे मुक्त करनेका था। इन समस्त ज्ञानियोकी अपेक्षा परम मान्य रखने योग्य सर्वज्ञ महावीरके वचन सर्वत्र यही है कि संसार एकान्त और अनन्त शोकरूप तथा दु खदायी है। अहो भव्य लोगो! इसमे मधुरमोहिनी न लाकर इससे निवृत्त होओ! निवृत्त होओ!!

महावीरका उपदेश एक समय ।मात्रके लिए भी ससारका नही है। इन्होने अपने समस्त प्रवचनोमे यही बताया है और वैसा ही अपने आचरणके द्वारा सिद्ध भी कर दिखाया है। कचन जैसी काया, यशोदा जैसी रानी, अपार साम्राज्य लक्ष्मी और महाप्रतापी स्वजन परिवारका समूह होते हुए भी उसके मोहको दूर करके, ज्ञान-दर्शन-योग-परायण होकर इन्होने जो अद्भुतता दिखाई है, वह अनुपम है। इसी रहस्यका प्रकाश करते हुए पवित्र 'उत्तराध्ययन सूत्र' के आठवे अध्ययनकी पहली गाथामे कपिल-केवलीके समीपमे तत्त्वाभिलाषीके मुखकमलसे महावीरने कहलवाया है कि—

अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए ।
किं नाम हुज्ज कम्मं जेणाहं दुग्गइं न गच्छिज्जा ॥

"अध्रुव और अशाश्वत ससारमे अनेक प्रकारके दु ख हैं, मैं ऐसी कौन-सी करनी करूँ कि जिससे दुर्गतिमे न जाऊँ ?" इस गाथामे इस भावसे प्रश्न होनेपर कपिल मुनि फिर आगे उपदेश देते हैं—

"**अधुवे असासयंमि**"—यह महान् तत्त्वज्ञान-प्रसादीभूत वचन प्रवृत्तिमुक्त योगीश्वरके सतत वैराग्य-वेगके हैं। अति बुद्धिशालीको ससार भी उत्तम रूपसे मानता है, फिर भी वे बुद्धिशाली लोग उसका त्याग कर देते हैं। यह तत्त्वज्ञानका स्तुतिपात्र चमत्कार है। ये अत्यत मेधावी, अन्तमे पुरुषार्थका स्फुरण करके, महायोगका साधन करके आत्माके तिमिरपटको दूर करते हैं। ससारको शोक-सागर कहनेमे तत्त्वज्ञानियोका कोई भ्रम नही है, किन्तु वे समस्त तत्त्वज्ञानी कही तत्त्वज्ञानरूपी चन्द्रमाकी सोलह कलाओसे पूर्ण नही होते, इसीलिए सर्वज्ञ महावीरके वचन तत्त्वज्ञानके लिए जो प्रमाण देते हैं वे महान् अद्भुत सर्वमान्य और सर्वथा मगलमय हैं। महावीरके ही समान ऋषभदेव जैसे जो-जो सर्वज्ञ तीर्थंकर हुए हैं उन्होने नि स्पृहतासे उपदेश देकर जगत्-हितैषीकी पदवी प्राप्त की है।

ससारमें एकान्त और जो अनन्त भरपूर ताप है वे तीन प्रकारके कहे गये है—आधि, व्याधि और उपाधि। इनसे मुक्त होनेके लिए प्रत्येक तत्त्वज्ञानी उपदेश करते आये है। ससार-त्याग, शम, दम, दया, शान्ति, क्षमा, धृति, अप्रभुत्व, गुरुजनोका विनय, विवेक, नि स्पृहता, ब्रह्मचर्य, सम्यक्त्व और ज्ञान—इनका सेवन करना, क्रोध, लोभ, मान, माया, अनुराग, अप्रीति, विषय, हिसा, शोक, अज्ञान और मिथ्यात्व—इन सबका त्याग करना यह सभी दर्शनोका सामान्य रीतिसे सार है। निम्नाकित दो चरणोमे यह सार समाविष्ट हो जाता है—

"प्रभु भजो नीति सजो, परठो परोपकार"

सचमुच ! यह उपदेश स्तुतिपात्र है। यह उपदेश देनेमे किसी-ने किसी प्रकारकी और किसीने किसी प्रकारकी विचक्षणता दिखाई है। यह सब उद्देश्यकी दृष्टिसे तो समतुल्य दिखाई दे वैसे है, किन्तु सूक्ष्म उपदेशकके रूपमे श्रमणभगवान्–सिद्धार्थ राजाके पुत्र–प्रथम पदके स्वामी सिद्ध होते है। निवृत्तिके लिए जिन-जिन विषयोको पहले कहा है उन-उन विषयोका वास्तविक स्वरूप समझकर सर्वाश-मे मगलमय रूपसे उपदेश देनेमे यह राजपुत्र सबसे आगे बढ गये हैं। इसलिए वह अनन्त धन्यवादके पात्र हैं।

इन सभी विषयोका अनुकरण करनेका क्या प्रयोजन और क्या परिणाम है ? अब इसका निर्णय करे। सभी उपदेशक यह कहते आये है कि इसका परिणाम मुक्ति प्राप्त करना है और इसका प्रयोजन दु खकी निवृत्ति है। इसीलिये सर्वदर्शनोमे सामान्यरूपसे मुक्ति-को अनुपम श्रेष्ठ कहा है। 'सूत्रकृताग' के द्वितीय अगके प्रथम श्रुत-स्कन्धके छठे अध्ययनकी चौबीसवी गाथाके तीसरे चरणमे कहा है कि—

"निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा"

सभी धर्मोंमे मुक्तिको श्रेष्ठ कहा है।

साराश यह है कि मुक्ति अर्थात् ससारके शोकसे मुक्त होना और परिणाममे ज्ञानदर्शन आदि अनुपम वस्तुओको प्राप्त करना। जिसमे परमसुख और परमानन्दका अखण्ड निवास है, जन्ममरणकी विडम्बनाका अभाव है, शोकका और दु खका क्षय है, ऐसे इस वैज्ञानिक विषयका विवेचन किसी अन्य प्रसगपर करेगे।

यह भी निर्विवाद मानना चाहिये कि उस अनन्त शोक और अनन्त दु खकी निवृत्ति इन्ही सासारिक विषयोसे नही होगी। जैसे रुधिरसे रुधिरका दाग नही जाता, परन्तु वह दाग जलसे दूर हो जाता है, इसीतरह शृगारसे अथवा शृगारमिश्रित धर्मसे ससारकी निवृत्ति नही होती। इसके लिए तो वैराग्य-जलकी आवश्यकता नि सशय सिद्ध होती है और इसीलिये वीतरागके वचनोमे अनुरक्त होना उचित है। निदान इससे विषयरूपी विषका जन्म नही होता। परिणामस्वरूप यही मुक्तिका कारण हो जाता है। हे मनुष्य! इन वीतराग सर्वज्ञके वचनोको विवेक-बुद्धिसे श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके आत्माको उज्ज्वल कर।

प्रथम दर्शन

इसमे वैराग्यबोधिनी कुछ भावनाओका उपदेश करेंगे। वैराग्य और आत्महितैषी विषयोकी सुदृढता होनेके लिए बारह भावनाओका तत्त्वज्ञानियोने उपदेश किया है—

१. अनित्यभावना—शरीर, वैभव, लक्ष्मी, कुटुम्ब-परिवार आदि सब विनाशीक हैं। जीवका केवल मूलधर्म ही अविनाशी है, ऐसा चिन्तवन करना पहली अनित्य भावना है।

२. अशरणभावना—ससारमे मरणके समय जीवको शरण रखने वाला कोई नही, मात्र एक शुभ धर्मकी शरण ही सत्य है। ऐसा चिन्तवन करना दूसरी अशरणभावना है।

३. **संसारभावना**—इस आत्माने ससार-समुद्रमे पर्यटन करते-करते सभी भव धारण किये है। इस संसाररूपी बन्धनसे मै कब छूटूँगा ? यह ससार मेरा नही है, मै मोक्षमय हूँ, ऐसा चिन्तवन करना तीसरी ससार भावना है।

४. **एकत्वभावना**—यह मेरा आत्मा अकेला है, यह अकेला ही आया है और अकेला जायगा तथा अपने किये हुए कर्मोको अकेला ही भोगेगा। इस प्रकार अन्तःकरणसे चिन्तवन करना यह चौथी एकत्वभावना है।

५. **अन्यत्वभावना**—इस ससारमे कोई किसीका नही है ! ऐसा चिन्तवन करना पाँचवी अन्यत्वभावना है।

६. **अशुचिभावना**—यह शरीर अपवित्र है, मलमूत्रकी खान है, रोग और जराका निवासधाम है। इस शरीरसे मै न्यारा हूँ, यह चिन्तवन करना छठी अशुचिभावना है।

७. **आश्रवभावना**—राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सर्व आश्रव है, इसप्रकार चिन्तवन करना सातवी आश्रवभावना है।

८. **संवरभावना**—ज्ञान-ध्यानमे प्रवृत्त होकर जीव नये कर्म नही बाँधता, यह आठवी सवरभावना है।

९. **निर्जराभावना**—ज्ञानसहित क्रिया करना निर्जराका कारण है, ऐसा चिन्तवन करना नौवी निर्जराभावना है।

१०. **लोकस्वरूपभावना**—चौदह राजू लोकके स्वरूपका विचार करना लोकस्वरूपभावना है।

११. **बोधिदुर्लभभावना**—ससारमे भ्रमण करते हुए आत्माको सम्यग्ज्ञानकी प्रसादी प्राप्त होना दुर्लभ है और यदि सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति भी हुई तो चारित्र—सर्वविरतिपरिणामरूप धर्मका पाना तो दुर्लभ है, ऐसा चिन्तवन करना ग्यारहवी बोधिदुर्लभभावना है।

१२. **धर्मदुर्लभभावना**—धर्मके उपदेशक तथा शुद्धशास्त्रके बोधक

ऐसे गुरु और उनके उपदेशका श्रवण मिलना दुर्लभ है, ऐसा चिन्तवन करना बारहवी धर्मदुर्लभभावना है।

इसप्रकार मुक्ति साध्य करनेके लिए जिस वैराग्यकी आवश्यकता है, उस वैराग्यको दृढ करने वाली बारह भावनाओमेसे कुछ भावनाओका इस दर्शनके अन्तर्गत वर्णन करेगे। कुछ भावनाएँ कुछ विषयोमे बॉट दी गई हैं और कुछ भावनाओंके लिए अन्य प्रसगकी आवश्यकता है। इसलिये उनका यहाँ विस्तार नही किया है।

प्रथम चित्र

अनित्यभावना

(उपजाति)

विद्युत् लक्ष्मी प्रभुता पतग, आयुष्य ते तो जळना तरंग,
पुरंदरी चाप अनंग रंग, शुं राचिये त्यां क्षणनो प्रसंग !

विशेषार्थ—लक्ष्मी बिजलीके समान है। जिस प्रकार बिजलीकी चमक उत्पन्न होकर तत्क्षण ही विलीन हो जाती है, उसी प्रकार लक्ष्मी आकर चली जाती है। अधिकार पतगके रगके समान है, जैसे पतगका रग चार दिनकी चटक है, उसी प्रकार अधिकार केवल थोडे कालतक रहकर हाथसे चला जाता है। आयु पानीकी हिलोरके समान है। जैसे पानीकी हिलोरे इधर आई और उधर निकल गई, उसी प्रकार जन्म पाया और एक देहमे रहा, न रहा इतनेमे ही दूसरे देहमे जाना पडता है। काम-भोग आकाशके इन्द्रधनुषके समान है। जैसे इन्द्रधनुष वर्षाकालमे उत्पन्न होकर क्षणभरमे लय हो जाता है, उसीप्रकार यौवनमे कामके विकार फलीभूत होकर बुढापेमे नष्ट हो जाते हैं। सक्षेपमे, हे जीव! इन सब वस्तुओका सम्बन्ध क्षणभरका है। इसमे प्रेम-बन्धनकी साँकलसे बँधकर क्या प्रसन्न होना? तात्पर्य यह है कि ये सब चपल और विनाशीक हैं, तू अखण्ड और अविनाशी है, इसलिये अपने जैसी नित्य वस्तुको प्राप्त कर!

भिखारीका खेद

इस अनित्य और स्वप्नवत् सुखके सम्बन्धमे एक दृष्टान्त दे रहे है—

एक पामर भिखारी जगलमे भटकता फिरता था। वहाँ उसे भूख लगी। इसलिये वह विचारा लडखडाता हुआ एक नगरमे एक सामान्य मनुष्यके घर पहुँचा। वहाँ जाकर उसने अनेक प्रकारसे गिडगिडाहट की। उसकी चिरौरीपर करुणा करके उस गृहस्थकी स्त्रीने उसको घरमे जीमनेसे वचा हुआ मिष्टान्न लाकर दिया। ऐसे भोजनके मिलनेसे भिखारी वहुत आनदित होता हुआ नगरके वाहर आया और एक वृक्षके नीचे वैठ गया। वहाँ जरा साफ करके उसने एक ओर वहुत पुराना अपना पानीका घडा रख दिया। एक ओर अपनी फटी-पुरानी गुदडी रखी और दूसरी ओर वह स्वय उस भोजन-को लेकर वैठा। खुशी-खुशी उसने उस अभूतपूर्व भोजनको खाकर पूरा किया। तत्पश्चात् सिरहाने एक पत्थर रखकर वह सो गया। भोजन-के मदसे थोडी ही देरमे भिखारीकी आँखे मिच गई। वह निद्राके वश हुआ कि इतनेमे उसे एक स्वप्न आया। उसे ऐसा लगा कि मानो स्वय महाराजऋद्धि पाया है इसलिये उसने सुन्दर वस्त्राभूपण धारण किये है, समस्त देशमे उसकी विजयका डका वज गया है, समीपमे उसकी आज्ञा उठानेके लिए अनुचर लोग खडे हुए हैं, आस-पास मे छडीदार 'क्षेमक्षेम' ('खमा खमा') पुकार रहे है। वह एक रमणीय महलमे सुन्दर पलग पर लेटा हुआ है, देवागना जैसी स्त्रियाँ उसके पैर दवा रही है, एक ओरसे मनुष्य पंखेसे सुगन्धित पवन ढोल रहे है, इस प्रकार उसे अपूर्व सुखकी प्राप्तिवाला स्वप्न दिखाई दिया। स्वप्नावस्थामे उसके रोमाच उल्लसित हो गये। वह ऐसा मानने लगा कि जैसे वह वास्तवमे वैसा सुख भोग रहा है। इतनेमे सूर्यदेव वादलोसे ढक गया, विजली कौंधने लगी, मेघराजा चढ आये, सर्वत्र अधकार व्याप्त हो गया और ऐसा दिखाई देने लगा कि अव मूसला-

धार वर्षा होने वाली है और गर्जन-तर्जनके साथ एक जोरका कडाका हुआ। कडाकेकी प्रबल आवाजसे भयभीत होकर वह पामर भिखारी तत्काल जाग उठा। जागकर वह देखता है कि न तो वह देश है न वह नगरी। न वह भवन है, न वह पलग, न वे चँवर-छत्र धारण करने-वाले है और न वे छडीदार, न वे स्त्रियोके समूह है और न वे वस्त्रालकार, न वे पखे हैं और न वह सुगन्धित पवन, न वे अनुचर है और न वह आज्ञा, न वह सुखविलास है और न वह मदोन्मत्तता। वह देखता है तो जिस स्थान पर पानीका पुराना घडा पडा था उसी स्थान पर वह पडा हुआ है। जिस स्थान पर फटी-टूटी गुदडी पडी थी उस स्थान पर वह ज्यो-की-त्यो पडी है। भाई तो जैसे थे वैसे-के-वैसे दिखाई दिये। जाली-ताकवाले जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पहने था वैसे-के-वैसे ही वे वस्त्र शरीरपर शोभायमान हैं। 'न राईभर घटा, न तिल भर बढा!' यह सब देख कर वह अति शोकमग्न हो गया और सोचने लगा कि जिस सुखाडम्बरके द्वारा मैने आनन्द माना, उस सुखमेसे तो यहाँ कुछ भी नही है। अरेरे! मैने स्वप्नके भोग तो भोगे नही और मुझे वृथा ही मिथ्या खेद प्राप्त हुआ। इस प्रकार वह बेचारा भिखारी आत्मग्लानिमे पड गया।

प्रमाणशिक्षा—जैसे उस भिखारीको स्वप्नमे सुखसमुदाय दिखाई दिया, उसे भोगा और आनन्द माना। इसी प्रकार पामर प्राणी ससारके स्वप्नकी भाँति सुखसमुदायको महाआनन्दरूप मान बैठे हैं। जैसे वे सुखसमुदाय उस भिखारीको जागने पर मिथ्या प्रतीत हुए, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानरूपी जागृतिके द्वारा ससारके सुख वैसे ही मालूम होते हैं। स्वप्नके भोग नही भोगे-जानेपर भी जैसे उस भिखारीको शोककी प्राप्ति हुई, उसी प्रकार पामर भव्य जीव ससारमे सुख मान लेते हैं और उन्हे भोगे हुओके समान मानते हैं, किन्तु वे उस भिखारीकी भाँति परिणामस्वरूप खेद, पश्चात्ताप और अधो-

गतिको प्राप्त होते है। जैसे स्वप्नकी एक भी वस्तुका सत्यत्व नही, उसी प्रकार ससारकी एक भी वस्तुका सत्यत्व नही। दोनो चपल और शोकमय है, ऐसा विचार करके बुद्धिमान् पुरुष आत्मश्रेयकी शोध करते है।

इस प्रकार श्री 'भावनाबोध' ग्रंथके प्रथम दर्शनका प्रथम चित्र 'अनित्य भावना' इसी विषयपर दृष्टान्त सहित वैराग्योपदेशार्थ समाप्त हुआ।

द्वितीय चित्र

अशरणभावना

(उपजातिछन्द)

सर्वज्ञनो धर्म सुशर्ण जाणी, आराध्य आराध्य प्रभाव आणी;
अनाथ एकांत सनाथ थाशे, एना विना कोई न बांह्य स्हाशे।

विशेषार्थ—हे चेतन! सर्वज्ञ जिनेश्वरदेवके द्वारा निस्पृहतासे उपदेश किये हुए धर्मको उत्तम शरणरूप जानकर मन, वचन और कायाके प्रभावसे उसका तू आराधन कर, आराधना कर! तू केवल अनाथरूप है, सो सनाथ होगा। इसके बिना भवाटवीरूप-भ्रमणमे तेरी बॉह पकडनेवाला कोई नही है।

जो जीव ससारके मायामय सुखको अथवा अवदर्शनको शरण-रूप मानते है, वे अधोगतिको पाते है और सदैव अनाथ रहते है, ऐसा उपदेश करनेवाले भगवान् अनाथी मुनिके चरित्रको [यहाँ] प्रारम्भ करते हैं, इससे अशरणभावना सुदृढ होगी।

अनाथी मुनि

दृष्टान्त—अनेक प्रकारकी लीलाओसे युक्त मगधदेशका राजा श्रेणिक अश्वक्रीडाके लिए मडिकुक्ष नामक वनमे निकल पडा। वन-की विचित्रता मनोहारिणी थी। वहॉ नाना प्रकारके तरुकुज विद्य-

मान थे, नाना प्रकारकी कोमल वल्लरियाँ घटाटोप (सघनरूपमे) छाई हुई थी, नाना प्रकारके पक्षी आनन्दसे उनका सेवन कर रहे थे, नाना प्रकारके पक्षियोंके मधुर गान वहाँ सुनाई पडते थे, नाना प्रकारके फूलोंसे वह वन छाया हुआ था, नाना प्रकारके जलके झरने वहाँ बहते थे, सक्षेपमे, वह वन सृष्टि सौन्दर्यके प्रदर्शनरूप होनेसे नन्दनवनकी समानता रखता था। उस वनमे एक वृक्षके नीचे महासमाधिवत किन्तु सुकुमार और सुखोचित मुनिको बैठे हुए उस श्रेणिकने देखा। उनका रूप देखकर उस राजाको अत्यन्त आनन्द हुआ। उनके अनुपमेय रूपसे विस्मित होकर वह मन-ही-मन उनकी प्रशसा करने लगा। अहो! इन मुनिका कैसा अद्भुत वर्ण है! अहो! कैसा मनोहर रूप है! अहो! इस आर्यकी कैसी अद्भुत सौम्यता है! अहो! यह कैसी विस्मयकारक क्षमाके धारक है! अहो! इनके अगसे वैराग्यका कैसा उत्तम प्रकाश प्रस्फुटित हो रहा है! अहो! इनकी कैसी निर्लोभता दीखती है! अहो! यह सयति कैसी निर्भय, अप्रभुत्व नम्रता धारण किये हुए है! अहो! इनकी भोगसे कैसी प्रबल विरक्ति है! इस प्रकार चिंतवन करते-करते, आनन्दित होते-होते, स्तुति करते-करते, धीरे-धीरे चलते हुए प्रदक्षिणा देकर उन मुनिको वन्दन कर, न अति समीप और न अति दूर, वह श्रेणिक बैठा। बादमे दोनो हाथोको जोडकर विनयसे उसने उन मुनिसे पूछा, "हे आर्य! आप प्रशसा करने योग्य तरुण हैं, भोग-विलासके लिए आपको वय अनुकूल है, ससारमे नानाप्रकारके सुख विद्यमान हैं, ऋतु-ऋतुके काम-भोग, जल सम्बन्धी विलास तथा मनोहारिणी स्त्रियोंके मुख-वचनोका मधुर श्रवण होते हुए भी इन सबका त्याग करके मुनित्वमे आप महाउद्यम कर रहे हैं, इसका क्या कारण है? यह मुझे अनुग्रह करके कहिये।" राजाके वचनोका ऐसा भाव सुनकर मुनिने कहा—"मै अनाथ था! हे राजन्! मुझे अपूर्व वस्तुका प्राप्त करानेवाला, योगक्षेमका करनेवाला, मुझपर अनुकम्पा लानेवाला, करुणासे परम-सुखको देनेवाला लेशमात्र भी

मेरा कोई मित्र नही हुआ। यह कारण मेरे अनाथीपनेका था।"

श्रेणिक, मुनिके भाषणसे किंचित् हँसे और बोले—"अरे! आप जैसे महाऋद्धिवान्के नाथ क्यो नही हो? लीजिये, यदि कोई नाथ नही तो मै होता हूँ। हे भयत्राण! आप भोग भोगिये। हे सयति! मित्र! जातिसे दुर्लभ ऐसे अपने मनुष्य भवको सुलभ कीजिये!"

अनाथीने कहा—किन्तु हे श्रेणिक, मगध देशके राजा! तू स्वय अनाथ है, फिर मेरा नाथ क्या बनेगा? जो निर्धन है वह धनाढ्य कहाँसे बनायेगा? अबुधजीव बुद्धिदान कहाँसे देगा? अज्ञ विद्वत्ता कहाँसे देगा? वध्या सन्तान कहाँसे देगी? जब तू स्वय अनाथ है तो मेरा नाथ क्योंकर बनेगा?

मुनिके इन वचनोसे राजा अति आकुल और अति विस्मित हुआ। इससे पूर्व कभी जो वचन नही सुने थे ऐसे वचन यतिके मुखसे सुनकर वह शकाग्रस्त हो गया। "मै अनेक प्रकारके अश्वोका और अनेक प्रकारके मदोन्मत्त हाथियोका स्वामी हूँ, अनेक प्रकारकी सेना मेरे आधीन है, नगर, ग्राम, अन्त पुर और चतुष्पदोकी मेरे कोई कमी नही है, मनुष्य सम्बन्धी सभी प्रकारके भोग मुझे प्राप्त है, अनुचर मेरी आज्ञाका भलीभाँति पालन करते है, मेरे यहाँ पाँचों प्रकारकी सम्पत्ति विद्यमान है, समस्त मनोवाछित वस्तुएँ मेरे पास है। मै ऐसा जाज्वल्यमान होते हुए भी अनाथ कैसे हो सकता हूँ? कदाचित् हे भगवन्! आपने मिथ्या कहा हो!"

मुनिराजने कहा, "हे राजन्! मेरे कहे गये अर्थकी उपपत्तिको तूने ठीकसे नही समझा। तू स्वय अनाथ है, किन्तु उस सम्बन्धमे तुझे पता नही, अब मै जो कहता हूँ उसे अव्यग्र और सावधान मनसे सुन, सुननेके बाद फिर अपनी शकाका सत्यासत्य निर्णय करना। मैने स्वय जिस अनाथपनके कारण मुनित्वको अगीकार किया है वह मै सर्वप्रथम तुझे कहता हूँ।

"कौशाम्बी नामक अतिजीर्ण और विविध प्रकारके भेदोको उत्पन्न करनेवाली एक सुन्दर नगरी है। वहाँ ऋद्धिसे परिपूर्ण धनसचय नामक मेरे पिता रहते थे। प्रथम यौवनावस्थामे, हे महाराजा! अतुल्य और उपमारहित मेरी आँखोमे वेदना उत्पन्न हुई तथा दु ख-प्रद दाहज्वर सम्पूर्ण शरीरमे प्रवर्तमान हुआ। शस्त्रसे भी अति तीक्ष्ण वह रोग शत्रुकी भाँति मुझपर कुपित हो गया। आँखोकी उस असह्य वेदनासे मेरा मस्तक दुखने लगा। इन्द्रके वज्रप्रहार जैसी और दूसरे-को भी रौद्रभय उत्पन्न करनेवाली उस अत्यन्त परम दारुण वेदनासे मै बहुत दु खी था। शारीरिक-विद्यामे निपुण और अनन्य मत्रमूलके ज्ञाता वैद्यराज मेरी उस वेदनाको दूर करनेके लिए आये, अनेक प्रकारके औषधोपचार किये, किन्तु वे सब व्यर्थ हुए। वे महानिपुण गिने जानेवाले वैद्यराज मुझे उस रोगसे मुक्त नही कर सके। हे राजन्! यही मेरा अनाथपना था। मेरी आँखोकी वेदनाको दूर करने-के लिए मेरे पिताने सम्पूर्ण धन देना प्रारम्भ किया, किन्तु उससे भी मेरी वह वेदना दूर नही हुई। हे राजन्! यही मेरा अनाथपना था। मेरी माता पुत्रके दु खमे अत्यन्त दु खार्त थी किन्तु वह भी मुझे उस रोगसे मुक्त नही करा सकी। हे महाराजा! यही मेरा अनाथपना था। मेरे सहोदर बडे और छोटे भाई भी जितना बन सका वह सब परिश्रम कर चुके किन्तु मेरी वेदना दूर नही हुई। हे राजन्! यही मेरा अनाथपना था। मेरी सहोदरा बडी और छोटी बहिनोसे भी मेरा दु ख दूर नही हुआ। हे महाराजा! यही मेरा अनाथपना था। मेरी पतिव्रता स्त्री जो कि मुझपर अनुरक्त और प्रेम-वती थी वह आँखोमे आँसू भरकर मेरे हृदयको सीचती और भिगोती थी। अन्न, जल और विविध प्रकारके स्नान-उबटन, चूवा आदिक सुगन्धित द्रव्य तथा अनेक प्रकारके फूल चन्दनादिकके विलेपन जाने-अनजाने किये, फिर भी मै उस यौवनवती स्त्रीको नही भोग सका। मेरे पाससे क्षणभरको भी अलग न रहनेवाली और मुझे छोडकर

क्षणभरको भी अन्यत्र न जानेवाली मेरी स्त्री भी, हे महाराज! मेरे रोगको दूर नही कर सकी। यही मेरा अनाथपना था। इस प्रकार किसीके प्रेमसे, किसीकी औषधिसे, किसीके विलापसे अथवा किसीके परिश्रमसे मेरा वह रोग शान्त नही हुआ और मैने उस समय बार-बार असह्य वेदना भोगी। तत्पश्चात् मुझे अनन्त ससारके प्रति खेद उत्पन्न हुआ और मै विचार करने लगा कि, "यदि मै एक बार इस महा विडम्बनामय वेदनासे मुक्त हो जाऊँ तो खती, दती और निरारम्भी प्रव्रज्याको धारण करूँ।" और ऐसा विचार करता हुआ मै सो गया। जब रात व्यतीत हो गई तब हे महाराज! मेरी वह वेदना क्षय हो गई और मै निरोगी हो गया। तब मैने माता, पिता और स्वजन-बान्धव आदिसे पूछकर प्रात काल महाक्षमावन्त, इन्द्रिय-निग्रही और आरम्भोपाधिसे रहित अनगारत्वको धारण कर लिया। तत्पश्चात् मै आत्मा-परात्माका नाथ हुआ! अब मै सब प्रकारके जीवोका नाथ हूँ।" इस प्रकार अनाथी मुनिने श्रेणिक राजाके मनपर अशरण-भावना दृढ कर दी। अब दूसरा अनुकूल उपदेश उसे देते है।

"हे राजन्! यह अपना आत्मा ही दुखोसे भरी हुई वैतरणीका करने वाला है। अपना आत्मा ही क्रूर शाल्मली वृक्षके दुखोंको उत्पन्न करने वाला है। अपना आत्मा ही मनोवाछित वस्तुरूपी दुधारू कामधेनु गायके सुखको उत्पन्न करने वाला है। अपना आत्मा ही नन्दनवनकी भाँति आनन्दकारी है। अपना आत्मा ही कर्मको करनेवाला है। अपना आत्मा ही उस कर्मको टालने वाला है। अपना आत्मा ही दु खोपार्जन करने वाला है। अपना आत्मा ही सुखोपार्जन करने वाला है। अपना आत्मा ही मित्र और अपना आत्मा ही शत्रु है। अपना आत्मा ही जघन्य आचारमे स्थित और अपना आत्मा ही निर्मल आचारमे स्थित रहता है।" यह और इसी प्रकार अनेक प्रकारसे उन अनाथी मुनिने श्रेणिक राजाके प्रति ससार-

का अनाथपना कह वताया। इसके वाद श्रेणिक राजा अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ और वह दोनो हाथकी अञ्जलि बाँधकर यो बोला कि—"हे भगवन्! आपने मुझे भली-भाँति उपदेश दिया है। आपने जैसा था वैसा अनाथपन कह बताया। हे ऋषिराज! आप सनाथ हैं, सबान्धव हैं और सधर्म है। आप सभी अनाथोके नाथ हैं। हे पवित्र संयति! मैं क्षमा-याचना करता हूँ और आपकी ज्ञानरूपी शिक्षाका इच्छुक हूँ। धर्मध्यानमे विघ्नकारक भोग भोगनेके सम्बन्धमे हे महाभाग्यवन्त! मैने जो आपको आमत्रण दिया, उस सम्बन्धमे अपने अपराधको मस्तकपर धारण करके क्षमा-याचना करता हूँ।" इस प्रकार स्तवन करके वह राजपुरुषकेसरी परमानन्दको पाते हुए रोमाचित होकर प्रदक्षिणापूर्वक सविनय वन्दना करके अपने स्थान को चला गया।

प्रमाण शिक्षा—अहो भव्यो! महातपोधन, महामुनि, महाप्रज्ञावान, महायशस्वी, महानिर्ग्रन्थ और महाश्रुत, अनाथी मुनिने मगध देशके राजा श्रेणिकको अपने बीते हुए अनुभूत चरित्रसे जो बोध दिया वह सचमुच ही अशरणभावनाको सिद्ध करता है। महामुनि अनाथीके द्वारा सहन की गई वेदनाओंके समान अथवा इससे भी अधिक असह्य दु ख अनन्त आत्माओको सामान्य दृष्टिसे भोगते हुए देखते हैं। उसके सम्बन्धमे तुम कुछ विचार करो। ससारमे आच्छादित अनन्त अशरणताका त्याग करके सत्य शरणरूप उत्तम तत्त्वज्ञान और परम सुशीलका सेवन करो। अन्तमे यही मुक्तिका कारणरूप है। जैसे ससारमे रहते हुए अनाथी अनाथ थे, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी उत्तम प्राप्तिके बिना सदैव अनाथ ही है। सनाथ होनेके लिए पुरुषार्थ करना ही श्रेयस्कर है।

इति श्री 'भावनाबोध' ग्रन्थके प्रथम दर्शनके द्वितीय चित्रमें 'अशरण-भावना'के उपदेशहेतु महानिर्ग्रंथका चरित्र समाप्त हुआ।

●

तृतीय चित्र

एकत्वभावना

(उपजातिछन्द)

शरीरमां व्याधि प्रत्यक्ष थाय, ते कोई अन्ये लई ना शकाय;
ए भोगवे एक स्व आत्म पोते, एकत्व एथी नयसुज्ञ गोते।

विशेषार्थ—शरीरमे प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले रोग आदि जो उपद्रव होते हैं उन्हे स्नेही, कुटुम्बी, स्त्री अथवा पुत्र कोई भी नही ले सकते । उन्हे केवल एक अपना आत्मा स्वय ही भोगता है। इसमे कोई भी सहभागी नही होता तथा पाप, पुण्य आदि सब विपाकोको अपना आत्मा ही भोगता है। यह अकेला आता है और अकेला जाता है, ऐसा सिद्ध करके विवेकको भली-भाँति जानने वाले पुरुष एकत्वकी निरन्तर खोज करते हैं।

दृष्टान्त—महापुरुषके उस न्यायको अचल करनेवाले नमिराजर्षि और शक्रेन्द्रके वैराग्योपदेशक संवादको यहाँ प्रदर्शित करते है। नमिराजर्षि मिथिला नगरीके राजेश्वर थे। स्त्री, पुत्र आदिसे विशेष दु ख समूहको प्राप्त न होते हुए भी एकत्वके स्वरूपको परिपूर्णरूपसे पहचाननेमे राजेश्वरने किंचित् भी विभ्रम नही किया। शक्रेन्द्र सर्वप्रथम जहाँ नमिराजर्षि निवृत्तिमे विराजमान है, वहाँ विप्रके रूपमें आकर परीक्षा लेनेके लिए अपना व्याख्यान प्रारम्भ करते है।

विप्र—हे राजन् । मिथिला नगरीमे आज प्रबल कोलाहल व्याप्त हो रहा है। हृदय और मनको उद्वेग करने वाले विलापके शब्दोसे राजमन्दिर और सभी घर आच्छादित हो गये है। केवल तेरी एक दीक्षा ही इन सब दु खोका कारण है। अपने द्वारा दूसरोके आत्माको जो दु:ख पहुँचता है उस दु खको ससारके परिभ्रमणका कारण मान कर तू वहाँ जा, भोला मत बन।

नमिराज—(गौरव भरे वचनो से) हे विप्र ! जो तू कहता है वह केवल अज्ञानरूप है। मिथिला नगरीमे एक बगीचा था, उसके बीचमे एक वृक्ष था, वह शीतल छायासे युक्त रमणीय था, वह पत्र, पुष्प और फलोंसे युक्त था और वह नाना प्रकारके पक्षियोको लाभ-कारक था। इस वृक्षके वायु द्वारा कम्पित होनेसे वृक्षमे रहनेवाले पक्षी दु खार्त और शरणरहित होनेसे आक्रन्दन करते हैं। ये पक्षी स्वय वृक्षके लिए विलाप नही कर रहे हैं, किन्तु वे अपने सुखके नष्ट होनेके कारण ही शोकसे पीडित हैं।

विप्र—परन्तु यह देख ! अग्नि और वायुके मिश्रणसे तेरा नगर, तेरा अन्त पुर और मन्दिर जल रहे हैं, इसलिये वहाँ जा और उस अग्निको शान्त कर।

नमिराज—हे विप्र ! मिथिला नगरीके उन अन्त पुर और उन मन्दिरोंके जलनेसे मेरा कुछ भी नही जलता है। जैसे सुखोत्पत्ति है वैसे ही मैं प्रवृत्त हूँ। इन मन्दिर आदिमे मेरा अल्पमात्र भी राग नही है। मैंने पुत्र, स्त्री आदिके व्यवहारको छोड दिया है। मुझे इनमेसे कुछ भी प्रिय नही है और कुछ अप्रिय भी नही है।

विप्र—किन्तु हे राजन् ! तू अपनी नगरीका सघन किला बनवा कर मोहल्ले, कोठे, किवाड, साँकल (अर्गला) आदि बनवा कर और शतघ्नी खाई बनवा कर वादमे जाना।

नमिराज—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) हे विप्र ! मै शुद्ध-श्रद्धारूपी नगरी बना कर, सवररूपी चटकनी, अर्गला बनवा कर, क्षमारूपी शुभ किला बनाऊँगा। शुभ मनोयोगरूपी कोठे बनाऊँगा, वचनयोगरूपी खाई बनाऊँगा, कायायोगरूपी शतघ्नी करूँगा, परा-क्रमरूपी धनुष चढाऊँगा, ईर्यासमितिरूपी डोरी लगाऊँगा, धीरजरूपी कमान पकडनेकी मूठ बनाऊँगा, सत्यरूपी चापसे धनुषको बाँधूँगा, तपरूपी वाण बनाऊँगा और कर्मरूपी शत्रुओकी सेनाका भेदन करूँगा।

मुझे लौकिक सग्रामकी रुचि नही है, मै केवल ऐसे भावसंग्रामको चाहता हूँ ।

विप्र—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) हे राजन् ! शिखर-बन्ध ऊँचे प्रासाद बनवा कर मणि-काचनमय झरोखे आदि लगवा कर, तालाबमे क्रीडा करनेके मनोहर महालय बनवा कर फिर जाना।

नमिराज—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) तूने जिस-जिस प्रकारके महल गिनाये है वे सब महल मुझे अस्थिर और अशाश्वत जान पडते है। वे मार्गमे बने हुए घर (सराय) के समान मालूम होते है। इसलिए जहॉ स्वधाम है, जहॉ शाश्वतता है और जहॉ स्थिरता है वहॉ मै निवास करना चाहता हूँ।

विप्र—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) हे क्षत्रिय शिरोमणि ! अनेक प्रकारके चोरोके उपद्रवोको दूर कर, इसके द्वारा नगरीका कल्याण करके तू जाना ।

नमिराज—हे विप्र ! अज्ञानी मनुष्य अनेक बार मिथ्या दड देते है। चोरीके नही करनेवाले शरीरादिक पुद्‌गल लोकमे बॉधे जाते है और चोरीके करनेवाले जो इन्द्रिय-विकार उन्हे कोई नही बाँध सकता। तब फिर ऐसा करनेकी क्या आवश्यकता है ?

विप्र—हे क्षत्रिय ! जो राजा तेरी आज्ञाका पालन नही करते और जो नराधिप स्वतंत्रतासे प्रवृत्ति करते है तू उन्हे अपने वशमे करके बादमे जाना ।

नमिराज—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) दस लाख सुभटोको सग्राममे जीतना दुर्लभ गिना जाता है, फिर भी ऐसे विजेता (विजयको प्राप्त करनेवाले) पुरुष अनेक मिल जायँ, किन्तु एक स्वात्माको जीतनेवालेका मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। उन दस लाख सुभटोपर विजय प्राप्त करनेवालेकी अपेक्षा एक स्वात्माको जीतनेवाला पुरुष परमोत्कृष्ट है। आत्माके साथ युद्ध करना उचित है। बाह्य-युद्धका

क्या प्रयोजन है ? ज्ञानरूपी आत्माके द्वारा क्रोधादि युक्त आत्माको जीतनेवाला स्तुतिपात्र है। पाँचो इन्द्रियोको, क्रोधको, मानको, माया-को और लोभको जीतना दुष्कर है। जिसने मनोयोगादिको जीता उसने सब कुछ जीता।

विप्र—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) हे क्षत्रिय ! समर्थ यज्ञ करके, श्रमण, तपस्वी और ब्राह्मण आदिको भोजन देकर, सुवर्ण आदिका दान देकर, मनोज्ञभोगोको भोगकर तू फिर बादमे जाना।

नमिराज—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) प्रतिमास जो दस लाख गायोका दान दे तो भी उस दस लाख गायोंके दानकी अपेक्षा सयम ग्रहण करके सयमकी आराधना करता है वह विशेष मगलको प्राप्त होता है।

विप्र—निर्वाह करनेके लिए भिक्षावृत्तिके कारण सुशील प्रव्र-ज्याके धारण करनेमे असह्य परिश्रम उठाना पडता है। तब वहाँ उस प्रव्रज्याको छोडकर अन्य प्रव्रज्या (के धारण करने) मे रुचि होती है, इसलिये इस उपाधिको दूर करनेके लिए तू गृहस्थ आश्रममें रह-कर ही पौषध आदि व्रतोमे तत्पर रहना। हे मनुष्याधिपति ! मैं ठीक कहता हूँ।

नमिराज—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) हे विप्र ! बाल अविवेकी चाहे जैसे उग्र तप करे, परन्तु वह सम्यक् श्रुत धर्म तथा चारित्र धर्मके तुल्य नही हो सकता। एकाध कला सोलह कलाओंके समान कैसे मानी जा सकती है ?

विप्र—हे क्षत्रिय ! सुवर्ण, मणि, मुक्ताफल, वस्त्रालकार और अश्वादिककी करनेके वाद जाना।

नमिराज—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) यदि मेरु पर्वतके समान सोने-चाँदीके असख्यात पर्वत हो तो भी लोभी मनुष्यकी तृष्णा नही बुझती, वह किंचित् मात्र भी सन्तोषको प्राप्त नही होता। तृष्णा आकाशके समान अनन्त है। यदि धन सुवर्ण और पशु इत्यादि

से समस्त लोक भर जाय तो भी वह सब लोभी मनुष्यकी तृष्णाको दूर करनेमे समर्थ नही है। लोभकी ऐसी कनिष्ठता है। इसलिए विवेकी पुरुष सन्तोष-निवृत्तिरूप तपका आचरण करते है।

विप्र—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) हे क्षत्रिय ! मुझे अद्भुत आश्चर्य होता है कि तू विद्यमान भोगोको छोड रहा है और फिर अविद्यमान कामभोगके सम्बन्धमे सकल्प-विकल्प करके पतित होगा, इसलिये यह सब मुनित्व सम्बन्धी उपाधिको छोड़।

नमिराज—(हेतु और कारणसे प्रेरित होकर) कामभोग शल्यके समान है, कामभोग विषके समान है, कामभोग सर्पके समान हैं, इनकी वाछा करनेसे जीव नरकादिक अधोगतिमे जाता है, इसी प्रकार क्रोध और मानके कारण दुर्गति होती है, मायाके द्वारा सद्-गतिका विनाश होता है, लोभके द्वारा इस लोक और परलोकका भय उपस्थित होता है, इसलिए हे विप्र ! तू इसका मुझे उपदेश मत कर। मेरा हृदय कभी भी चलायमान होनेवाला नही है और इस मिथ्या मोहिनीमे अभिरुचि रखनेवाला नही है। जान-बूझकर विष-पान कौन करे ? जान-बूझकर दीपक लेकर कुएँमे कौन गिरे ? जान-बूझकर विभ्रममे कौन पडेगा ? मै अपने अमृत जैसे वैराग्यके मधुर रसको अप्रिय करके इस विषको प्रिय करनेके लिए मिथिलामे आने वाला नही हूँ।

महर्षि नमिराजकी सुदृढता देखकर शक्रेन्द्रको परमानन्द हुआ। पश्चात् ब्राह्मणके रूपको छोड़कर इन्द्रपनेकी विक्रिया धारण की। फिर वह वन्दना करके मधुर वचनोंके द्वारा उन राजर्षीश्वरकी स्तुति करने लगा कि—"हे महायशस्वी ! बडा आश्चर्य है कि तूने क्रोधको जीत लिया, अहकारको हराया, आश्चर्य, मायाको दूर किया, आश्चर्य, तूने लोभको वशमे किया। आश्चर्यकारक है तेरी सरलता, तेरा निर्ममत्व, तेरी क्षमा प्रधानता और आश्चर्यकारी है तेरी निर्लो-

भता। हे पूज्य! तू इस भवमे उत्तम है और परभवमे भी उत्तम होगा। तू कर्मरहित होकर सर्वोच्च सिद्ध गतिको प्राप्त करेगा।" इस प्रकार स्तुति करते-करते, प्रदक्षिणा देते-देते श्रद्धा-भक्तिसे उसने उन ऋषिराजके चरण-कमलोमे वन्दना की। तत्पश्चात् वह सुन्दर मुकुट वाला शक्रेन्द्र आकाश-मार्गसे चला गया।

प्रमाण-शिक्षा—विप्रके रूपमे नमिराजके वैराग्यकी परीक्षा करनेमे इन्द्रने क्या कसर रखी है? कुछ भी नही। ससारकी जो-जो लोलुपताये मनुष्यको चलायमान करनेवाली है, उन-उन लोलुपताओंके सम्बन्धमे महागौरवपूर्ण प्रश्न करनेमे उस इन्द्रने निर्मलभावसे प्रशसनीय चतुराई दिखाई है। फिर भी देखनेकी बात तो यह है कि नमिराज केवल कचनमय रहे हैं और अपने शुद्ध तथा अखण्ड वैराग्यके वेगका वहन उन्होने उत्तरमे दर्शित किया है।

"हे विप्र! तू जिन-जिन वस्तुओको मेरी कहलवाता है वे वस्तुएँ मेरी नही हैं। मै मात्र अकेला—एक ही हूँ, अकेला जानेवाला हूँ और मात्र प्रशसनीय एकत्वको ही चाहता हूँ।" ऐसे रहस्यमे नमिराज अपने उत्तरको और वैराग्यको दृढीभूत करते गये हैं, उन महर्षिका चरित्र ऐसी परम प्रमाण-शिक्षासे भरा हुआ है। दोनो महात्माओका पारस्परिक सवाद शुद्ध एकत्वको सिद्ध करने तथा अन्य वस्तुओका त्याग करनेके उपदेशके लिए यहाँ दिखाया गया है। इसे भी विशेप दृढीभूत करनेके लिए नमिराजने एकत्व कैसे प्राप्त किया इस सम्बन्धमे नमिराजके एकत्व सम्बन्धको सक्षेपमे कहते हैं।

वह विदेह देश जैसे महान् राज्यके अधिपति थे। वे अनेक यौवनवती मनोहारिणी स्त्रियोंके समुदायसे घिरे हुए थे। दर्शन मोहनीयका उदय न होते हुए भी वे ससार-लुब्ध जैसे दिखाई देते थे। किसी समय उनके शरीरमे दाह-ज्वर नामक रोग उत्पन्न हुआ। उससे सारा शरीर मानो जल रहा हो ऐसी जलन व्याप्त हो गई। रोम-

रोममें हजार बिच्छुओकी दश-वेदनाके समान दुःख उत्पन्न हो गया। वैद्य-विद्यामे प्रवीण पुरुषोंके औषधोपचारका अनेक प्रकारसे सेवन किया, किन्तु वह सब व्यर्थ गया, किंचित् मात्र भी वह व्याधि कम न होकर अधिक बढती ही गई, प्रत्येक औषधि मानो दाह-ज्वरकी हितैषिणी होती गई। कोई भी औषधि ऐसी नही मिली कि जिसे दाहज्वरसे किंचित् भी द्वेष हो। निपुण वैद्य हताश हुए और राजेश्वर भी उस महाव्याधिसे ऊब गया। उसे दूर करनेवाले पुरुषकी खोज चारो ओर होने लगी। अन्तमे एक महाकुशल वैद्य मिला, उसने मलयागिरि चन्दनका लेप करना बताया। मनोरमा रानियाँ उस चन्दनके घिसनेमे लग गई। चन्दन घिसनेकी उस क्रियासे हाथोमे पहना हुआ कगन-समुदाय प्रत्येक रानीके पास कोलाहल करने लग गया। मिथिलेशके अगमे दाहज्वरकी एक असह्य वेदना तो थी ही और दूसरी कगनोके उस कोलाहलसे उत्पन्न हुई। कोलाहलको सहन नही कर सके तो उन्होने रानियोको आज्ञा दी कि तुम चदन मत घिसो, क्यो कोलाहल करती हो? मुझसे यह कोलाहल सहन नही हो सकता। एक तो मै (दाह ज्वरकी) महाव्याधिसे ग्रसित हूँ, ऊपरसे यह दूसरा व्याधिकारक कोलाहल होता है जो (मेरे लिए) असह्य है। तब समस्त रानियोनें एक-एक कगन मगलस्वरूप रखकर शेष कगन उतार दिये। जिससे वह कोलाहल शान्त हो गया। तब नमिराजने रानियोसे पूछा—"क्या तुमने चन्दन घिसना बन्द कर दिया?" रानियोने उत्तर दिया कि—"नही, मात्र कोलाहल शान्त करनेके लिए एक-एक ही कगन रखकर शेष ककणोका परित्याग करके हम चन्दन घिस रही है। अब हमने ककणोके समूहको अपने हाथमे नही रखा इसलिए कोलाहल नही होता।" रानियोके इतने वचन सुनकर नमिराजके रोम-रोममे एकत्व सिद्ध हुआ—एकत्व व्याप्त हो गया

और उनका ममत्व दूर हो गया। "सचमुच ही! बहुतोके मिलनेसे बहुत उपाधि होती दीखती है। अब देख, इस एक कगनसे किंचित् मात्र भी कोलाहल नही होता, जबकि कगनके समूहसे सिर चकरा देनेवाला कोलाहल होता था। अहो चेतन! तू मान कि एकत्वमे ही तेरी सिद्धि है। अधिक मिलनेसे अधिक उपाधि है। ससारमे अनन्त आत्माओंके सम्बन्धसे तुझे व्यर्थ ही उपाधि भोगनेकी क्या आवश्यकना है? उसका त्यागकर और एकत्वमे प्रवेश कर। देख! अब यह एक ककण कोलाहलके बिना कैसी उत्तम शान्तिमे रम रहा है? जब अनेक थे तब यह कैसी अशाति भोग रहा था? इसी प्रकार तू भी ककणरूप है। जबतक तू भी उस कगनकी भाँति स्नेही-कुटुम्बीजनरूपी कगन समुदायमे पडा रहेगा तबतक भवरूपी कोलाहलका सेवन करना पडेगा और यदि तू इस कगनकी वर्तमान स्थितिकी भाँति एकत्वका आराधन करेगा तो सिद्धगतिरूपी महापवित्र शान्तिको प्राप्त करेगा।" इस प्रकार वैराग्यके उत्तरोत्तर प्रवेशमे उन नमिराजको पूर्वभवका स्मरण हो आया। वे प्रव्रज्या धारण करनेका निश्चय करके सो गये। प्रभातमे मागल्यरूप बाजोकी ध्वनि विस्तरी, नमिराज दाहज्वरसे मुक्त हुए। एकत्वका परिपूर्ण सेवन करने वाले श्री नमिराजर्षिको अभिवन्दन हो।

(शार्दूलविक्रीडित)

राणी सर्व मळी सुचन्दन घसी, ने चर्चवामां हती,
बूझ्यो त्यां ककळाट कंकणतणो, श्रोती नमिभूपति।
संवादे पण इन्द्रथी दृढ़ रह्यो, एकत्व साचुं कर्युं,
एवा ए मिथिलेशनुं चरित आ, सम्पूर्ण अत्रे थयु॥

विशेषार्थ—रानियोका समुदाय चदन घिसकर विलेपन करनेमे लगा हुआ था, उस समय ककणोका कोलाहल सुनकर नमिराजको

बोध प्राप्त हुआ। वे इन्द्रके साथ सवादमे भी अचल रहे और एकत्व-को सिद्ध किया।

ऐसे उन मुक्तिसाधक महावैरागी मिथिलेशका चरित्र 'भावनाबोध' ग्रन्थके तृतीय चित्रणमे पूर्ण हुआ।

चतुर्थ चित्र

अन्यत्वभावना

(शार्दूलविक्रीडित)

ना मारा तन रूप कान्ति युवती, ना पुत्र के भ्रात ना,
ना मारां भृत स्नेहियो स्वजन के, ना गोत्र के ज्ञात ना।
ना मारां धन धाम यौवन धरा, ए मोह अज्ञात्वना,
रे! रे! जीव विचार एमज सदा, अन्यत्वदा भावना ॥

विशेषार्थ—यह शरीर मेरा नही, यह रूप मेरा नही, यह कांति मेरी नही, यह स्त्री मेरी नही, यह पुत्र मेरे नही, ये भाई मेरे नही, ये दास मेरे नही, ये स्नेही मेरे नही, ये सम्बन्धी मेरे नही, यह गोत्र मेरा नही, यह ज्ञाति मेरी नही, यह लक्ष्मी मेरी नही, ये महल मेरे नही, यह यौवन मेरा नही और यह भूमि मेरी नही, यह सब मोह केवल अज्ञानपनेका है। हे जीव! सिद्धगति पानेके लिए अन्य-त्वका उपदेश देने वाली अन्यत्वभावनाका विचार कर! विचार कर!

मिथ्या ममत्वकी भ्रमणा दूर करनेके लिए और वैराग्यकी वृद्धिके लिए भावपूर्वक मनन करने योग्य राजराजेश्वर भरतका चरित्र यहाँ उद्धृत करते है—

दृष्टान्त—जिसकी अश्वशालामे रमणीय, चतुर और अनेक प्रकार के तेज अश्वोका समूह शोभायमान होता था, जिसकी गजशालामे अनेक भाँतिके मदोन्मत्त हाथी झूम रहे थे, जिसके अन्त पुरमे नव-यौवना सुकुमारिका और मुग्धा स्त्रियाँ हजारोकी सख्यामे शोभित

हो रही थी, जिसके खजानेमे विद्वानो द्वारा चचला उपमासे वर्णन की हुई समुद्रकी पुत्री लक्ष्मी स्थिर हो गई थी, जिसकी आज्ञाको देव-देवागनाये आधीन होकर अपने मुकुट पर चढा रहे थे, जिसके भोजनके लिए नानाप्रकारके षट्रस व्यजन पल-पलमे निर्मित होते थे, जिसके कोमल कर्णके विलासके लिए पतले और मधुर स्वरसे गायन करनेवाली वारागनाये तत्पर रहती थी, जिसके निरीक्षण करनेके लिए अनेक प्रकारके नाटक-तमाशे विद्यमान थे, जिसकी यश-कीर्ति वायुरूपसे प्रसरकर आकाशके समान व्याप्त हुई थी,-जिसके शत्रुओको सुखसे शयन करनेका समय न आया था, अथवा जिसके वैरियोकी वनिताओके नयनोसे सदा आँसू ही टपकते रहते थे, जिससे कोई शत्रुता दिखानेको तो समर्थ था ही नही, परन्तु जिसके सामने निर्दोषतासे उँगली दिखानेमे भी कोई समर्थ न था, जिसके समक्ष अनेक मत्रियोका समुदाय उसकी कृपाकी याचना करता था, जिसके रूप, काति और सौन्दर्य मनोहारक थे, जिसके अगमे महान् बल, वीर्य, शक्ति और उग्र पराक्रम उछल रहे थे, जिसके क्रीडा करनेके लिए महासुगन्धिमय बाग-बगीचे और वन-उपवन बने हुए थे, जिसके यहाँ मुख्य कुलदीपक पुत्रोका समूह था, जिसकी सेवामे लाखो अनुचर सज्ज होकर खडे रहा करते थे, वह पुरुष जहाँ-जहाँ जाता था वहाँ-वहाँ क्षेम-क्षेम (खमा, खमा) के उद्गारोसे, कचनके फूल और मोतियोके थालसे बधाई दी जाती थी, जिसके कुकुमवर्णी चरण-कमलोका स्पर्श करनेके लिए इन्द्र जैसे भी तरसते थे, जिसकी आयुधशालामे महायशोमान् दिव्य चक्रकी उत्पत्ति हुई थी, जिसके यहाँ साम्राज्यका अखण्ड दीपक प्रकाशमान था, जिसके सिर पर महान् छह खण्डकी प्रभुताका तेजस्वी और प्रकाशमान मुकुट सुशोभित था। कहनेका अभिप्राय यह है कि जिसकी साधन-सामग्रीका, जिसके दलका, जिसके नगर, पुर और पट्टनका, जिसके वैभवका, जिसके विलास-

का संसारमे किसी भी प्रकारसे कोई न्यूनत्व नही था, ऐसे वह श्रीमान् राजराजेश्वर भरत अपने सुन्दर आदर्श भवनमे वस्त्राभूषणोसे सुशोभित होकर मनोहर सिहासन पर बैठे थे। चारो ओरके द्वार खुले थे, नाना प्रकारकी धूपोका धूम्र मद-मद फैल रहा था, नाना प्रकारके सुगन्धित पदार्थ खूब महक-महक उठे थे, नाना प्रकारके सुस्वर युक्त वाद्य-यत्र यात्रिक कलासे स्वर खीच रहे थे; शीतल, मद और सुगन्धित वायुकी लहरे फैल रही थी, आभूषण आदिका निरीक्षण करते हुए वे श्रीमान् राजराजेश्वर भरत उस भवनमे अपूर्वताको प्राप्त हुए।

ऐसेमे उनके हाथकी एक उँगलीमेसे अँगूठी निकल पडी। भरतका ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ और उन्हे अपनी उँगली शोभाहीन दिखाई दी। नौ उँगलियाँ अँगूठियो द्वारा जिस मनोहरताको धारण कर रही थी उस मनोहरतासे रहित उस उँगलीको देखकर भरतेश्वरको अद्भुत मूलोत्तर विचारकी प्रेरणा हुई। किस कारणसे यह उँगली ऐसी लग रही है? यह विचार करने पर उसे मालूम हुआ कि इसका कारण केवल उँगलीमेसे अँगूठीका निकल जाना ही है। इस बातको विशेषरूपमे प्रमाणित करनेके लिए उसने दूसरी उँगलीकी अँगूठी भी निकाल डाली। जैसे ही दूसरी उँगलीमेसे अँगूठी निकाली वैसे ही वह उँगली भी शोभाहीन दिखाई देने लगी। फिर इस बातको सिद्ध करनेके लिए उसने तीसरी उँगलीमेसे भी अँगूठी धीरेसे सरका ली, इससे यह बात और भी प्रमाणित हो गई। फिर चौथी उँगलीमेसे भी अँगूठी निकाल ली इसने भी वैसा ही दृश्य दिखाया। इस प्रकार भरतने क्रम-क्रमसे दसो उँगलियाँ खाली कर डाली। खाली हो जानेसे सबकी सब उँगलियाँ शोभाहीन दिखाई दी। इनके अशोभ्य प्रतीत होनेसे राजराजेश्वर अन्यत्वभावनामे गद्-गद होकर इस प्रकार बोले—

"अहो हो ! कैसी विचित्रता है कि भूमिसे उत्पन्न हुई वस्तुको कूट-पीटकर कुशलतापूर्वक घडनेसे मुद्रिका बनी, इस मुद्रिकासे मेरी उँगली सुन्दर दिखाई दी, इस उँगलीमे-से इस मुद्रिकाके निकल जाने-से विपरीत ही दृश्य दिखाई दिया। विपरीत दृश्यसे उँगलीकी शोभा-हीनता और नग्नता खेदका कारण हुआ। अशोभ्य प्रतीत होनेका कारण केवल अँगूठीका न होना ही ठहरा न ? यदि अँगूठी होती तब तो मैं ऐसी अशोभा न देखता। इस मुद्रिकासे मेरी यह उँगली शोभाको प्राप्त हुई, इस उँगलीसे यह हाथ शोभित होता है, इस हाथसे यह शरीर शोभित होता है, फिर इसमे मैं किसकी शोभा मानूं ? बड़े आश्चर्यकी बात है ! मेरी इस मानी जानेवाली मनोहर कातिको और भी विशेष दीप्त करनेवाले ये मणि-माणिक्य अलकार और रगबिरगे वस्त्र ही सिद्ध हुए, यह काति मेरी त्वचाकी शोभा सिद्ध हुई, यह त्वचा शरीरकी गुप्तताको ढककर सुन्दरता दिखाती है, अहो हो ! यह महाविपरीतता है ! जिस शरीरको मैं अपना मानता हूँ, वह शरीर केवल त्वचासे, वह त्वचा कान्तिसे, और वह कान्ति वस्त्रालकारसे शोभित होती है, तो क्या फिर मेरे शरीरकी कुछ शोभा ही नही ? क्या यह केवल रुधिर, माँस, हाडोका ही घोसला है ? और इस घोसलेको ही मैं सर्वथा अपना मान रहा हूँ, कैसी भूल ! कैसी भ्रमणा ! और कैसी विचित्रता है। मैं केवल पर पुद्गलकी शोभासे ही शोभित हूँ। किसी अन्यसे रमणीयता धारण करनेवाले इस शरीरको मैं अपना कैसे मानूं ? और कदाचित् ऐसा मानकर मैं इसमे ममत्व-भाव रखूँ तो वह भी केवल दु खप्रद और वृथा है। मेरे इस आत्मा-का इस शरीरसे कभी-न-कभी वियोग होने ही वाला है। जब आत्मा दूसरे देहको धारण करनेके लिए गमन करेगा तब इस देहके यही पडे रहनेमे कोई शका नही है। यह काया न तो मेरी हुई और न होगी, फिर मैं इसे अपनी मानता हूँ अथवा मानूं यह केवल मूर्खता है। जिसका एक समय वियोग होनेवाला है और जो केवल

अन्यत्वभावको ही धारण किये हुए है फिर उसमे ममत्व क्या रखना? जब यह मेरी नही होती तो फिर क्या मुझे इसका होना उचित है ? नही। नही। जब यह मेरी नही तो फिर मै इसका नही, ऐसा विचारूँ, दृढ करूँ और प्रवर्तन करूँ, यही विवेकबुद्धिका तात्पर्य है। यह समस्त सृष्टि अनन्त वस्तुओसे और अनन्त पदार्थोसे भरी हुई है; उन सब पदार्थोकी अपेक्षा जिसके समान मुझे एक भी वस्तु प्रिय नही, वह वस्तु भी मेरी न हुई, तो फिर अन्य कोई वस्तु मेरी कैसे हो सकती है ? अहो ! मै बहुत भूल गया। मिथ्या मोहमें फँस गया। वे नवयौवनाये, वे सब माने हुए कुलदीपक पुत्र, वह अतुल लक्ष्मी, वह छह खण्डका महान् राज्य—मेरे नही। इनमेसे लेश मात्र भी मेरा नही। इसमें मेरा किंचित् भी भाग नही। जिस कायासे मै इन सब वस्तुओका उपभोग करता हूँ, जब वह भोग्य वस्तु ही मेरी न हुई तो फिर अपनी मानी हुई अन्य वस्तुएँ—स्नेही, कुटुम्बी इत्यादि—क्या मेरे होनेवाले थे ? नही, कुछ भी नही। यह ममत्वभाव मुझे नही चाहिए ! इन पुत्र, इन मित्र, इन कलत्र, इस वैभव और इस लक्ष्मी को मुझे अपना मानना ही नही ! मै इनका नही और ये मेरे नही ! पुण्यादिको साधकर मैने जो-जो वस्तुएँ प्राप्त की वे-वे वस्तुएँ मेरी न हुई, इसके समान ससारमे खेदमय और क्या है ? मेरे उग्र पुण्यत्वका क्या यही परिणाम न ? अन्तमे इन सबका वियोग ही होनेवाला है न ? पुण्यत्वके इस फलको पाकर इसकी वृद्धिके लिए मैने जो-जो पाप किये वे सब मेरे आत्माको ही भोगने हैं न ? और वह भी अकेले ही न ? इसमे कोई साझीदार नही ही न ? नही, नही। इन अन्यत्वभावी पदार्थोके लिए ममत्वभाव दिखाकर मै आत्माका अहितैषी होऊँ और इसको रौद्र नरकका भोक्ता बनाऊँ, इसके समान और अज्ञान क्या ? ऐसी कौन-सी भ्रमणा है ? ऐसा कौन-सा अविवेक है ? त्रेसठ शलाका पुरुषोमे-से मै एक गिना गया हूँ, फिर भी मै ऐसे कृत्यको दूर न कर सकूँ और प्राप्त की हुई प्रभुताको खो बैठूँ, यह सर्वथा अनुचित है।

इन पुत्रोका, इन प्रमदाओका, इस राजवैभवका और इन वाहन आदिके सुखका मुझे कुछ भी अनुराग नही। ममत्व नही!"

राजराजेश्वर भरतके अन्त करणमे वैराग्यका ऐसा प्रकाश पडा कि उनका तिमिर-पट दूर हो गया। उन्हे शुक्लध्यान प्राप्त हुआ, जिससे समस्त कर्म जलकर भस्मीभूत हो गये। महादिव्य और सहस्र किरणोसे भी अनुपम कान्तिमान केवलज्ञान प्रकट हुआ। उसी समय इन्होने पचमुष्टि केशलोचन किया। शासनदेवीने इन्हे साधुके उपकरण प्रदान किये, और वे महावीतरागी सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर चतुर्गति, चौबीस दण्डक तथा आधि, व्याधि और उपाधिसे विरक्त हुए। चपल ससारके सकल सुख-विलासोंसे इन्होने निवृत्ति प्राप्त की, प्रिय-अप्रियका भेद दूर हुआ और वे निरन्तर स्तवन करने योग्य परमात्मा हो गये।

प्रमाण-शिक्षा—इस प्रकार छह खण्डके प्रभु, देवोंके देव समान, अतुल साम्राज्य लक्ष्मीके भोक्ता, महाआयुके धनी, अनेक रत्नोंके धारक राजराजेश्वर भरत आदर्श-भवनमे केवल अन्यत्वभावनाके उत्पन्न होनेसे शुद्ध विरागी हुए।

वस्तुत भरतेश्वरका मनन करने योग्य चरित्र ससारकी शोकार्तता और उदासीनताका पूरा-पूरा भाव, उपदेश और प्रमाण दर्शित करता है। कहो! इनके घर किस बातकी कमी थी? न इनके घर नवयौवना स्त्रियोकी कमी थी और न थी राजऋद्धिकी कमी, न पुत्रोंके समुदायकी कमी थी, न थी कुटुम्ब परिवारकी कमी, न थी विजय सिद्धिकी कमी, न ही थी नवनिधिकी कमी, न रूप कान्तिकी कमी थी और न ही थी यशस्कीर्तिकी कमी।

इस तरह पहले कही हुई उनकी ऋद्धिका पुन स्मरण कराकर प्रमाणके द्वारा हम शिक्षा-प्रसादीका लाभ यही देना चाहते हैं कि भरतेश्वरने विवेकसे अन्यत्वके स्वरूपको देखा, जाना और सर्प-

कंचुकवत् संसारका परित्याग करके उसके ममत्वको मिथ्या सिद्ध कर बताया। महा वैराग्यकी अचलता, निर्ममत्व और आत्मशक्तिकी प्रफुल्लता, यह सब इन महायोगीश्वरके चरित्रमे गर्भित है।

एक ही पिताके सौ पुत्रोमे-से निन्यानवे पुत्र पहलेसे ही आत्म-कल्याणको साधते थे। सौवे इन भरतेश्वरने आत्मसिद्धि प्राप्त की। पिताने भी इसी कल्याणका साधन किया। उत्तरोत्तर होनेवाले भरतेश्वरके राज्यासनका भोग करनेवाले भी इसी आदर्श-भवनमें इसी सिद्धिको प्राप्त हुए कहे जाते है। यह सकल सिद्धि साधक-मडल अन्यत्वको ही सिद्ध करके एकत्वमे प्रवेश कराता है। उन पर-मात्माओको अभिवन्दन हो।

(शार्दूलविक्रीडित)

देखी आंगळी आप एक अडवी, वैराग्यवेगे गया,
छाडी राजसमाजने भरतजी, कैवल्यज्ञानी थया।
चोथुं चित्र पवित्र एज चरिते, पाम्युं अहीं पूर्णता,
ज्ञानीनां मन तेह रंजन करो, वैराग्य भावे यथा॥

विशेषार्थ—अपनी एक उँगलीको शोभारहित देखकर जिसने वैराग्यके प्रवाहमे प्रवेश किया और जिसने राजसमाजको छोडकर केवलज्ञान प्राप्त किया, ऐसे उन भरतेश्वरका चरित्र धारण करके यह चौथा चित्र पूर्णताको प्राप्त हुआ। वह यथेच्छ वैराग्यभाव दिखा कर ज्ञानी पुरुषोंके मनको रजन करनेवाला होओ।

इति श्री भावनाबोध ग्रथमे अन्यत्वभावनाके उपदेशके लिए प्रथम
दर्शनके चतुर्थ चित्रमें भरतेश्वरका दृष्टान्त और
प्रमाण-शिक्षा पूर्णताको प्राप्त हुए।

●

पंचम चित्र

अशुचिभावना

(गीतिवृत्त)

खाण मूत्र ने मळनी, रोग जरानुं निवासनुं धाम;
काया एवी गणीने, मान त्यजीने कर सार्थक आम ॥

विशेषार्थ—हे चैतन्य ! इस कायाको मल और मूत्रकी खान, रोग और वृद्धताके रहनेका धाम मान कर उसका मिथ्याभिमान त्याग करके सनत्कुमारकी भाँति उसे सफल कर !

इन भगवान् सनत्कुमारका चरित्र अशुचिभावनाकी प्रामाणिकता बतानेके लिए यहाँ आरम्भ करेगे।

दृष्टान्त—जो-जो ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ और वैभव भरतेश्वरके चरित्रमे वर्णित किये, उन सव वैभवादिसे युक्त सनत्कुमार चक्रवर्ती थे। उनका वर्ण और रूप अनुपम था। एक बार सुधर्म-सभामे उस रूपकी प्रशसा हुई, किन्तु किन्ही दो देवोको वह बात प्रिय नही लगी। पश्चात् वे दोनो अपनी शका निवारणके लिए विप्रके रूपमे सनत्कुमारके अन्त पुरमे गये। उस समय सनत्कुमारके शरीर पर उबटन लगा हुआ था। उनके अग पर केवल मर्दनादिक पदार्थोंका विलेपन था। वे एक छोटा-सा अँगोछा (पचा) पहने हुए थे और वे स्नान-मज्जन करनेके लिए बैठे थे। विप्रके रूपमे आये हुए वे दोनो देव उनका मनोहर मुख, कचनवर्णी काया और चन्द्रमा जैसी काति देख कर बहुत आनन्दित हुए, उन्होने अपने सिरको तनिक हिलाया, तव चक्रवर्तीने उनसे पूछा कि, तुमने सिर क्यो हिलाया ? देवोने कहा कि हम आपके रूप और वर्णको देखनेके वहुत अभिलाषी थे। हमने जगह-जगह पर आपके रूप और वर्णकी प्रशसा सुनी थी, आज वह बात हमे प्रत्यक्ष प्रमाणभूत हुई अत हम आनन्दको प्राप्त हुए है। हमारे सिर हिलानेका तात्पर्य यह है कि जैसा लोगोमे कहा जाता

है वैसा ही आपका रूप है। प्रत्युत यह कहना चाहिए कि उससे विशेष ही है, कम नही। सनत्कुमार चक्रवर्ती अपने रूप और वर्ण-की प्रशसा सुनकर प्रभुत्वमे आकर बोले कि तुमने अभी मेरा जो रूप देखा सो तो ठीक, किन्तु जिस समय मै राजसभामे वस्त्रालकार धारण करके सम्पूर्ण सुसज्जित होकर सिहासन पर बैठता हूँ उस समय मेरा रूप और वर्ण देखने योग्य है, इस समय तो मै शरीर पर उब-टन-लिप्त दशामे बैठा हूँ। यदि तुम उस समय मेरे रूप और वर्णको देखोगे तो अद्भुत चमत्कारको प्राप्त होगे और आश्चर्यचकित हो जाओगे। 'तो फिर हम राजसभामे आवेगे' ऐसा कहकर देव वहाँसे चले गये।

उसके बाद सनत्कुमार चक्रवर्तीने उत्तम और अमूल्य वस्त्रा-लकार धारण किये। और जैसे भी अपनी काया विशेष आश्चर्य उपजावे उस प्रकारके अनेक उपचार करके वे राजसभामे आकर सिहासनपर बैठे। आस-पासमे समर्थ मत्रीगण, सुभट, विद्वान् और अन्य सभासद् लोग अपने-अपने योग्य आसनो पर बैठ गये है। राजेश्वर चँवर-छत्रसे और क्षेम-क्षेम (खमा-खमा) से विशेष शोभित हो रहे है। एव हर्षपूर्वक पूजा-सत्कार पा रहे है। वहाँ वे देवता विप्रका रूप धारण करके पुन आये। अद्भुत रूप-वर्णसे आनन्द प्राप्त करनेके बदले मानो खेदको प्राप्त हुए है, ऐसे भावमे उन्होने अपना सिर हिलाया। चक्रवर्तीने पूछा कि हे ब्राह्मणो! पिछली बारकी अपेक्षा इस बार तुमने भिन्नरूपसे अपना सिर हिलाया, इसका क्या कारण है? वह मुझसे कहो! तब अवधिज्ञानके अनुसार विप्रोने कहा कि हे महाराज! उस रूपमे और इस रूपमे धरती और आकाशका अन्तर हो गया है। चक्रवर्तीने उन्हे इस बातको स्पष्ट समझानेके लिए कहा। तब ब्राह्मण बोले· अधिराज! पहले आपकी कोमल काया अमृत-तुल्य थी, इस समय विष तुल्य है। इसलिए, जब आपका अमृत-तुल्य अंग था

तब हम आनन्दित हुए थे। इस समय वह विष-तुल्य है अत. हमे खेद हुआ है। हम जो कुछ कह रहे हैं उस बातको यदि सिद्ध करना हो तो आप इसी समय ताम्बूल थूकिए, तत्काल ही उसपर मक्खी बैठेगी और वह परलोकको प्राप्त होगी।

सनत्कुमार चक्रवर्तीने इस बातकी परीक्षा की तो वह सत्य सिद्ध हुई। पूर्वित कर्मके पापके भागमे इस काया सम्बन्धी मदका मिश्रण होनेसे इस चक्रवर्तीकी काया विषमय हो गई है। विनाशीक और अशुचिमय कायाका ऐसा प्रपच देखकर सनत्कुमारके अन्त करणमे वैराग्य उत्पन्न हुआ और वे सोचने लगे कि यह ससार केवल त्याग करने योग्य है। ठीक ऐसी ही अशुचि स्त्री, पुत्र और मित्रादिकके शरीरमे विद्यमान है। यह सब मोह-मान करने योग्य नही है, ऐसा कहकर वे छह खण्डकी प्रभुताका त्याग करके चल निकले। वे जब साधुके रूपमे विचरते थे तब उनके शरीरमे कोई महारोग उत्पन्न हो गया। उसकी सत्यताकी परीक्षा लेनेके लिए कोई देव वहाँपर वैद्यके रूपमे आया और उसने साधुसे कहा कि मैं बहुत कुशल राज-वैद्य हूँ, तुम्हारी काया रोगका भोग बनी हुई है, यदि इच्छा हो तो मैं तत्काल ही उस रोगको दूर कर दूँ। साधु बोले, "हे वैद्य! कर्मरूपी रोग महा-उन्मत्त हैं, यदि इस रोगको दूर करनेका सामर्थ्य हो तो भले ही मेरे इस रोगको दूर करो और यदि यह सामर्थ्य न हो तो यह रोग भले बना रहे।" देवताने कहा कि इस रोगको दूर करनेका मुझमे सामर्थ्य नही है। तत्पश्चात् साधुने अपनी लब्धिके सम्पूर्ण बलके द्वारा उँगलीको थूक वाली करके उसे रोगपर फेरा कि तत्काल ही वह रोग नष्ट हो गया और वह काया जैसी थी वैसी ही बन गई। उस समय देवने अपने स्वरूपको प्रगट किया और वह धन्यवाद देकर एव वदना करके अपने स्थानको चला गया।

प्रमाणशिक्षा—जिस शरीरमें सदैव खून और पीपसे खदबदाते हुए रक्तपित्त जैसे महारोगकी उत्पत्ति होती है, पल भरमे विनश जानेका जिसका स्वभाव है, जिसके प्रत्येक रोममे पौने दो-दो रोगोका निवास है और ऐसे साढे तीन करोड रोमयुक्त होनेसे वह करोडो रोगोका भण्डार है, ऐसा विवेकसे सिद्ध है। अन्नादिककी न्यूनाधिकतासे वे प्रत्येक रोग जिस शरीरमे प्रकट होते है, मल-मूत्र, विष्ठा, हाड-माँस, पीप और कफ इत्यादिसे जिसका ढाँचा टिका हुआ है, मात्र त्वचासे जिसकी मनोहरता दिखाई देती है, उस शरीरका मोह सचमुच विभ्रम ही है। सनत्कुमार चक्रवर्तीने जिसका लेशमात्र अभिमान किया वह भी जिससे सहन नही हुआ उस शरीरमे अरे पामर! तू क्या मोह करता है? 'यह मोह मगलदायक नही है'[१]।

ऐसा होनेपर भी[२] आगे चलकर मनुष्य देहको सब देहोसे उत्तम कहना पडेगा। इसके कहनेका तात्पर्य यह है कि इस मानव देहसे सिद्ध-गतिकी सिद्धि होती है। उस स्थानपर नि शङ्क होनेके लिए यहाँ नाम मात्रका व्याख्यान किया गया है।

जब आत्माके शुभ कर्मका उदय हुआ तब उसे मनुष्य-देहकी प्राप्ति हुई। मनुष्यका अर्थ-दो हाथ, दो पैर, दो आँखे, दो कान, एक मुँह, दो ओष्ठ और एक नाक वाले शरीरका स्वामी नही है, अपितु इसका मर्म अलग ही है। यदि हम इस प्रकार अविवेक दिखाये तो फिर बन्दरको भी मनुष्य माननेमे क्या हानि है? क्योकि उस बेचारेको तो एक पूँछ भी अधिक प्राप्त है। किन्तु नही, मनुष्यत्वका मर्म यह है कि—जिसके मनमे विवेक बुद्धिका उदय हुआ है वही मनुष्य है, शेष सब विवेक बुद्धिके बिना दो पैर वाले पशु ही हैं। मेधावी पुरुष निरन्तर इस मानवत्वका इसी

---

१ द्वि० आ० पाठा० 'यह किंचित् भी स्तुतिपात्र नही है।'

२. देखिये, मोक्षमाला शिक्षा पाठ ४—मानव देह।

प्रकार मर्म प्रकाशित करते हैं। विवेक वुद्धिके उदय द्वारा मुक्तिके राजमार्गमे प्रवेश किया जाता है और इस मार्गमे प्रवेश पाना ही मानव देहकी उत्तमता है। तथापि यह बात सदैव स्मृतिमे रखना उचित है कि यह शरीर मात्र अशुचिमय है सो अशुचिमय ही है। इसके स्वभावमे अन्यत्व कुछ भी नही है।

भावनाबोध ग्रन्थमें अशुचि-भावनाके उपदेशके लिए प्रथम दर्शन
के पाँचवें चित्रमें सनत्कुमारका दृष्टान्त और
प्रमाणशिक्षा पूर्ण हुए।

अन्तर्दर्शन : षष्ठ चित्र

निवृत्तिबोध

(नाराचछन्द)

अनन्त सौख्य नाम दु ख त्यां रही न मित्रता!
अनन्त दुःख नाम सौख्य प्रेम त्या, विचित्रता!!
उखाड़ न्याय-नेत्र ने निहाळ रे! निहाळ तुं;
निवृत्ति शीघ्रमेव धारी ते प्रवृत्ति बाळ तुं॥

विशेषार्थ—जिसमे एकान्त और अनन्त सुखकी तरगे उछलती हैं ऐसे शील, ज्ञानको केवल नाम मात्रके दु खसे उकताकर उन्हे मित्ररूप नही मानकर, उनमे अभाव करता है, और केवल अनन्त दु खमय ऐसे ससारके नाममात्र सुखमे तेरा परिपूर्ण प्रेम है, यह कैसी विचित्रता है! अहो चेतन! अब तू अपने न्यायरूपी नेत्रोको खोलकर देख! रे देख!! देखकर शीघ्र ही निवृत्ति अर्थात् महा-वैराग्यको धारण कर और मिथ्या काम-भोगकी प्रवृत्तिको जला दे!

ऐसी पवित्र महानिवृत्तिको दृढ़ करनेके लिए उच्च वैराग्यवान्

युवराज मृगापुत्रका मनन करने योग्य चरित्र यहाँ प्रत्यक्ष है। तू कैसे दु खोको सुख मान बैठा है ? और कैसे सुखको दु.ख मान बैठा है ? इसे युवराजके मुख-वचन ही यथातथ्य सिद्ध करेंगे।

दृष्टान्त—अनेक प्रकारके मनोहर वृक्षोंसे परिपूर्ण उद्यानोंसे सुग्रीव नामक एक सुशोभित नगर है। उस नगरके राज्यासन पर बलभद्र नामक राजा राज्य करता था। उसकी प्रियवदा पट्टरानीका नाम मृगा था, इस दम्पतिसे बलश्री नामक एक कुमारने जन्म लिया। वह 'मृगापुत्र'के नामसे प्रसिद्ध हुआ। वह अपने माता-पिताको अत्यन्त प्रिय था। उस युवराजने गृहस्थाश्रममे रहते हुए भी सयतिके गुणोको प्राप्त किया था। इसलिए वह दमीश्वर अर्थात् यतियोमे अग्रेसर गिने जाने योग्य था। वह मृगापुत्र शिखरबन्द आनन्दकारी प्रासादमे अपनी प्राण-प्रियाके साथ दोगुदक देवताकी भाँति विलास करता था। निरन्तर प्रमोदयुक्त मनसे रहता था। उसके प्रासादका आँगन चन्द्रकान्त आदि मणि तथा विविध रत्नोसे जडा हुआ था। एक दिन वह कुमार अपने झरोखेमे बैठा हुआ था। वहाँसे नगरका निरीक्षण परिपूर्ण रूपसे होता था। जहाँ चार राजमार्ग एकत्वको प्राप्त होते थे ऐसे चौराहे पर तीन राजमार्ग एकत्रित हुए हैं वहाँ उसकी दृष्टि गई। वहाँ उसने महा तप, महा नियम, महा सयम, महा शील और महा गुणोके धामरूप एक शान्त तपस्वी साधुको देखा। ज्यो-ज्यो समय बीत रहा है त्यो-त्यो उस मुनिको वह मृगापुत्र निरख-निरख कर देख रहा है।

इस निरीक्षण परसे वह इस प्रकार बोला "लगता है, ऐसा रूप मैने कही देखा है" और ऐसा कहते-कहते वह कुमार प्रशस्त परिणामको प्राप्त हुआ। उसके मोहका परदा हट गया और वह उपशमताको प्राप्त हुआ। पूर्व जातिका स्मरण उत्पन्न होनेसे वह महा-ऋद्धिका भोक्ता मृगापुत्र पूर्व चारित्रके स्मरणको भी प्राप्त हुआ। वह शीघ्र ही उस विषयमे अनासक्त हुआ तथा सयममे आसक्त

हुआ । वह माता-पिताके निकट आकर बोला कि—पूर्व भवमे मैंने पाँच महाव्रतके सम्बन्धमे सुना था और नरकमे जो अनन्त दु ख है उन्हे भी मैंने सुना था और जो तिर्यञ्च गतिमे अनन्त दु ख हैं वे भी मैंने सुने थे । उन अनन्त दु खोसे खेद पाकर अव मैं उनसे निवृत्त होनेका अभिलाषी हुआ हूँ। इसलिए ससाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिए हे गुरुजनो ! मुझे उन पाँच महाव्रतोको धारण करनेकी अनुज्ञा दीजिए ।"

कुमारके वैराग्यपूर्ण वचन सुनकर माता-पिताने उसे भोगोको भोगनेका आमत्रण दिया। आमत्रणके वचनोसे खेदखिन्न होकर मृगा-पुत्रने कहा कि—"अहो मात ! अहो तात ! जिन भोगोको भोगनेका आप मुझे आमत्रण दे रहे हैं वे भोग मैं खूव भोग चुका हूँ। वे भोग-विषफल—किंपाक वृक्षके फलकी उपमासे युक्त हैं, भोगनेके वाद कडवे विपाकको देते हैं और सदैव दु खोत्पत्तिके कारण है। यह शरीर अनित्य और केवल अशुचिमय है, अशुचिसे उत्पन्न हुआ है, यह जीव-का अशाश्वत्त निवास है और अनन्त दु खोका कारण है । यह शरीर रोग, जरा और क्लेश आदिका भाजन है। ऐसे शरीरमे मैं कैसे रति करूँ ? यह शरीर वालपनमे छोड देना पडेगा अथवा वृद्धावस्थामे ऐसा जिसका कोई नियम नही है। यह शरीर पानीके फेनके वुल-वुलेके समान है । ऐसे शरीरमे स्नेह करना कैसे योग्य हो सकता है ? मनुष्यभवमे इस शरीरको प्राप्त करके यह कोढ, ज्वर इत्यादि व्या-धियोसे तथा जरा और मरणसे ग्रसित है। उसमे मै कैसे प्रेम करूँ ?

जन्मका दु ख, जराका दु ख, रोगका दु ख, मरणका दु ख, इस प्रकार इस ससारमे केवल दु खके ही हेतु हैं। भूमि, क्षेत्र, आवास, कचन, कुटुम्ब, पुत्र, प्रमदा और बन्धु-बान्धव इन सबको छोडकर मात्र क्लेशको प्राप्त करके इस शरीरको छोडकर अवश्य ही जाना है। जैसे किम्पाक-वृक्षके फलका परिणाम सुखदायक नही है, वैसे ही भोगका परिणाम भी सुखदायक नही है। जैसे कोई पुरुष महा यात्रा-

के प्रसगमे अन्न जल अगीकार न करे, मतलब कि साथमे न ले और क्षुधातृषासे दु·खी हो, वैसे ही धर्मके अनाचरणसे परभवकी यात्रामे जाता हुआ वह पुरुष दु·खी हो, जन्ममरणादिककी वेदना पावे। जिस प्रकार महाप्रवासमें जाते हुए जो पुरुष अन्न-जलादिक साथमे लेता है वह क्षुधातृषासे रहित होकर सुखको प्राप्त करता है, उसी प्रकार धर्मका आचरण करनेवाला पुरुष परभवमे जाता हुआ सुखको प्राप्त होता है, अल्पकर्म रहित होता है और असाता वेदनीयसे रहित होता है। हे गुरुजनो ! जैसे किसी गृहस्थका घर जल रहा हो तब उस घरका मालिक अमूल्य वस्त्रादिकको लेकर जीर्ण वस्त्रादिकको पडे रहने देता है, उसी प्रकार लोकको जलता हुआ देखकर जीर्ण वस्त्ररूपी जरा-मरणको छोडकर (आप आज्ञा दे तब मै) अपने अमूल्य आत्माको उस ज्वालासे बचाऊँगा।"

मृगापुत्रके यह वचन सुनकर शोकार्त हुए उसके माता-पिताने कहा कि—"हे पुत्र ! यह तू क्या कहता है ? चारित्र, निर्वाह करनेमे बडा दुर्लभ है। यतिको क्षमादिक गुण धारण करने पडते हैं, उनकी रक्षा करनी पडती है और यत्नपूर्वक उन्हे सँभालना पडता है। सयतिको मित्र और शत्रुमे समभाव रखना होता है, सयतिको अपने आत्मा और परात्मा पर समबुद्धि रखनी होती है, अथवा सर्व जगतपर समान भाव रखना होता है। ऐसा यह प्राणातिपातविरति प्रथम व्रत, जीवन पर्यन्त पालन करना पडता है कि जिसका पालन करना अति दुर्लभ है। सयतिको सदा काल अप्रमाद भावसे असत्य वचनका त्याग और हितकारी वचनका बोलना—ऐसा पालनेमे दुष्कर दूसरा व्रत अवधारण करना पडता है। सयतिको दन्त-शोधनके अर्थ एक सीक तकका अदत्त-ग्रहण करनेका त्याग, और निरवद्य तथा दोषरहित भिक्षाका ग्रहण, इस प्रकार पालन करनेमे दुष्कर तीसरे व्रतका अवधारण करना पडता है। कामभोगके स्वादको जानने और अब्रह्मचर्यके धारण करनेका त्याग करके ब्रह्मचर्य रूप चौथा व्रत

सयतिको अवधारण करना एव उसका पालन करना महा दुर्लभ है। धनधान्य, सेवक-समुदाय तथा परिग्रहके ममत्वका वर्जन, सभी प्रकारके आरम्भका त्याग करके मात्र निर्ममत्व भावसे पाँचवाँ महाव्रत सयतिको धारण करना अति विकट है। रात्रिभोजनका वर्जन तथा घृतादि पदार्थोके बासी रखनेका त्याग करना अति दुष्कर होता है।

"हे पुत्र! तू चारित्र-चारित्र क्या रटता है? चारित्र जैसी और कौन-सी दु खप्रद वस्तु है? क्षुधाका परिषह सहन करना, तृषा का परिषह सहन करना, सर्दी और गर्मीका परिषह सहन करना, डॉस, मच्छरका परिषह सहन करना, आक्रोषका परिषह सहन करना, उपाश्रयका परिषह सहन करना, तृणादिक-स्पर्शका परिषह सहन करना तथा मैलका परिषह सहन करना निश्चय ही हे पुत्र! कठिन है। ऐसा चारित्र कैसे पालन किया जा सकता है? वध-बन्धन आदिका परिषह कैसा विकट है? भिक्षाचरी कैसी दुर्लभ है, याचना करना कैसा दुर्लभ है? याचना करनेपर भी प्राप्त न हो तो वह अलाभ परिषह सहन करना कैसा दुर्लभ है? कायर पुरुषके हृदयको भेद डालनेवाला केशलोचन कैसा विकट है? तू विचार कर, कर्म वैरीके प्रति रौद्र-रूप ऐसा ब्रह्मचर्य व्रत कैसा दुर्लभ है? सचमुच! अधीर आत्माके लिए यह सब अत्यधिक विकट है।

"प्रिय पुत्र! तू सुख भोगनेके योग्य है। तेरा सुकुमार शरीर अति रमणीयतासे निर्मल स्नान करने योग्य है। हे प्रिय पुत्र! निश्चय ही तू चारित्र पालन करनेके लिए समर्थ नही है। यावज्जीवन इसमे कही कोई विश्राम नही है। सयतिके गुणका महासमुदाय लोहेकी भाँति वहुत भारी है। सयमका भार-वहन करना अत्यन्त विकट है। जैसे आकाश-गगाके प्रवाहके सामने जाना दुष्कर है उसी प्रकार युवावस्थामे सयमका पालन करना महादुष्कर है। जैसे बहावके

विपरीत जाना दुर्लभ है वैसे ही युवावस्थामे सयमका पालन करना महादुर्लभ है। जैसे भुजाओसे समुद्रका तिरना दुष्कर है वैसे ही युवावस्थामे सयमरूपी गुण समुद्रको तिरना महादुष्कर है। जैसे रेतका कौर नीरस है वैसे ही सयम भी नीरस है। जैसे खड्गकी धार पर चलना कठिन है वैसे ही तपका आचरण करना महा कठिन है। जैसे साँप एकान्त (सीधी) दृष्टिसे चलता है वैसे ही चारित्रमे ईर्या समितिके कारण एकान्त रूपसे चलना बडा कठिन है। हे प्रिय पुत्र ! जैसे लोहेके चने चवाना कठिन है, वैसे ही आचरण करनेमे सयम कठिन है। जैसे अग्नि-शिखाका पान करना दुष्कर है वैसे ही यौवनमे यतिपना अगीकार करना महादुष्कर है। केवल मन्द सहननके धारी कायर पुरुषका यतिपना प्राप्त करना और पालना दुष्कर है। जसे तराजूसे मेरुपर्वतका तौलना दुर्लभ है वैसे ही निश्चलतासे नि शकतासे दस प्रकारके यति धर्मका पालन करना दुष्कर है। जैसे भुजाओके द्वारा स्वयभूरमण समुद्रका पार करना दुष्कर है वैसे ही जो उपशमवत नही है उसके लिए उपशमरूपी समुद्रका पार करना अत्यन्त दुष्कर है।

"हे पुत्र ! शव्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पॉच प्रकारके मनुष्य सम्बन्धी भोगोको भोगकर, भुक्तभोगी होकर तू वृद्धावस्थामे धर्मका आचरण करना।"

माता-पिताका भोग सम्बन्धी उपदेश सुनकर वह मृगापुत्र अपने माता-पितासे इस प्रकार बोल उठा—

"विषयकी वृत्ति न हो उसे सयमकी पालना कुछ भी दुष्कर नहीं। इस आत्माने शारीरिक और मानसिक वेदनाएँ असाता रूपसे अनन्त बार सहन की है, भोगी है। इस आत्माने महादु खसे परिपूर्ण और भयको उत्पन्न करनेवाली अति रौद्र वेदनाएँ भोगी है। जन्म, जरा और मरण ये भयके धाम है। मैने चतुर्गतिमय ससार-अटवीमे भटकते हुए अति रौद्र दु ख भोगे है। हे गुरुजनो !

मनुष्य-लोकमे जिस अग्निको अतिशय उष्ण माना गया है, उस अग्निसे अनन्तगुनी उष्ण ताप वेदना इस आत्माने नरकगतिमे भोगी है। मनुष्य लोकमे जो ठण्ड अतिशीतल मानी गई है उस ठण्डसे भी अनन्तगुनी ठण्ड इस आत्माने नरकमे असातापूर्वक भोगी है। लोहे के पात्रमे ऊपर पॉव बाँधकर और नीचे मस्तक करके देवताओंके द्वारा विक्रियासे वनाई हुई धुआँधार जलती हुई आगमे आक्रन्दन करते हुए इस आत्माने अति-उग्र दु ख भोगे हैं। महादवकी अग्निके समान मरुदेशमे जैसी बालू होती है उस बालूके समान वज्रमय बालू कदम्ब नामक नदीकी है, उस प्रकारकी उष्ण वालूमे पूर्वकालमे मेरे आत्माको अनन्त वार जलाया है।"

"पकानेके वर्तनमे मुझे पकानेके लिए आक्रन्दन करते हुए भी अनन्त बार पटका है। नरकमे महारौद्र परम-अधार्मिकोने मुझे, मेरा कटु-कर्म विपाक होनेसे अनन्त बार ऊँचे वृक्षकी शाखापर बाँधा था। मुझ, बान्धवरहितको लम्बी करवतोंसे चीरा था। अत्यन्त तीक्ष्ण काँटोसे व्याप्त ऊँचे शाल्मलि वृक्षके साथ बाँधकर मुझे भारी खेद उपजाया था। रज्जुपाशसे बाँधकर आगे-पीछे खीचकर मुझे बहुत दु खी किया था। महान् असह्य कोल्हूमे ईखकी भाँति आक्रन्दन करते हुए बडी ही निर्दयताके साथ मैं पीडित किया गया हूँ। यह सब जो दु ख भोगना पडा है वह मात्र अपने अनन्त वारके अशुभकर्मके उदयका ही फल था। साम-नामक परम अधार्मिकोने मुझे कुत्ता बनाया, साबल नामक परम अधार्मिकोने उस कुत्तेके रूपमे मुझे जमीनपर पटका और जीर्णवस्त्रकी भाँति फाडा, वृक्षकी भाँति छेदा, मैं उस समय बहुत छटपटाता था।

"विकराल खड्गसे, भालेसे तथा अन्य हथियारोसे उन प्रचण्डोने मेरे टुकडे-टुकडे कर डाले। नरकमे पापकर्मके उदयसे जन्म लेकर अत्यन्त भयकर प्रकारके दु खसमूहोको भोगनेमे तिलभर भी कमी नही रही। परतन्त्रतामे मुझे अनन्त प्रज्वलित रथमे नीलगाय (रोझ)

की भाँति वलपूर्वक मुझे जोता गया। मै भैंसेकी भाँति देवताओकी वैक्रियक अग्निमे जलाया गया। मै भूभलमें पका (अर्द्धदग्ध) होकर असातासे अत्यन्त उग्रवेदना भोगता था। ढक और गिद्ध नामके विकराल पक्षियोकी सँडसे जैसी चोचोसे चूथा जाकर मै अनन्त वेदनाओंसे घबराकर विलाप करता रहा। प्यासके कारण जल पीनेकी आतुरतामे अतिवेगसे दौडते हुए छुरेकी धारके समान अनन्त दु खदायी वैतरणीका पानी मुझे मिला। पैनी तलवारकी धारके समान पत्तोवाले और महातापसे सतप्त ऐसे असिपत्र-वनमे पूर्वकालमे मुझे अनन्तवार छेदा गया। मुद्गरसे, पैनै हथियारोंसे, त्रिशूलसे, मूसलसे और गदासे मेरे गात छिन्न-भिन्न किये गये। इस प्रकार शरणरूप सुखके बिना मै अशरणरूप अनन्त दु ख भोगता था। मुझे शस्त्रोकी तीक्ष्ण धार द्वारा, छुरीसे तथा कैंचीसे वस्त्रकी भाँति काटा गया था। मेरे खण्ड-खण्ड टुकडे किये गये थे। मुझे तिरछा छेदा गया था। चरररर शब्द करती हुई मेरी त्वचा उतारी गई थी। इस प्रकार मैंने अनन्त दु ख पाये थे।

"मैं परवशतासे मृगकी भाँति अनन्तवार पाशमे पकडा गया। परम अधार्मिकोने मुझे मगरमच्छके रूपमे जाल डालकर अनन्तवार दु ख दिया। मुझे बाजके रूपमे पक्षीकी भाँति जालमे फँसाकर अनन्तवार मारा। फरसा इत्यादिक शस्त्रोसे मुझे अनन्तवार वृक्षकी भाँति काटकर मेरे छोटे-छोटे टुकडे किये। जैसे लुहार घन अथवा हथौडे आदिसे लोहेको पीटता है वैसे ही मुझे भी पूर्वकालमे परम अधार्मिकोने अनन्तवार कूटा-पीटा। ताँबा, लोहा और सीसा आदिको अग्निमे गलाकर उसका उबलता हुआ रस मुझे अनन्तवार पिलाया। अति रौद्रतासे वे परम अधार्मिक मुझसे ऐसा कहते जाते थे कि तुझे पूर्व भवमे मास प्रिय था, अव ले यह मास। इस प्रकार मैंने अपने ही शरीरके खण्ड-खण्ड टुकडे अनन्तवार निगले थे। मद्यकी प्रियता के कारण भी मुझे इससे कुछ कम दु ख सहना नही पडा। इस प्रकार

मैंने महाभयसे, महात्राससे और महादु खसे कम्पायमान कायाके द्वारा अनन्त वेदनाएँ भोगी। जो वेदनाएँ सहन करनेमे अतितीव्र, भयकर और उत्कृष्ट कालस्थितिवाली हैं और जो सुननेमे भी अत्यन्त भयकर हैं उन्हे मैंने नरकमें अनन्तवार भोगा है। जैसी वेदना मनुष्य लोकमे है, उससे भी अनन्तगुनी अधिक असातावेदनीय नरकमे विद्यमान थी। मैंने सभी भावोमे असातावेदनीय भोगी है, एक क्षणमात्र भी वहाँ सुख नही है।"

इस प्रकार मृगापुत्रने वैराग्यभावसे ससार-परिभ्रमणके दु ख कह सुनाये। इसके उत्तरमे उसके माता-पिता इस प्रकार बोले कि—"हे पुत्र! यदि तेरी इच्छा दीक्षा लेनेकी है तो तू दीक्षा ग्रहण कर, किन्तु चारित्र पालन करते हुए रोगोत्पत्तिके समय औषधोपचार कौन करेगा? दु खनिवृत्ति कौन करेगा? इसके बिना बडी कठिनता है।"

मृगापुत्रने कहा कि, "यह ठीक है, किन्तु आप विचार करे कि जगलमे मृग तथा पक्षी अकेले ही होते हैं, उन्हे रोग उत्पन्न होता है तब उनकी चिकित्सा कौन करता है? जैसे वनमे मृग अकेले ही विहार करते हैं उसी प्रकार मै भी चारित्र-वनमे विहार करूँगा और सत्रह प्रकारके शुद्ध सयमका अनुरागी होऊँगा। बारह प्रकारके तपका आचरण करूँगा तथा मृगचर्यासे विचरूँगा। जब मृगको वनमे किसी रोगका उपद्रव होता है तब उसकी चिकित्सा कौन करता है?" ऐसा कहकर वह पुन बोला कि, "कौन उस मृगको औषधि देता है? कौन उस मृगके आनन्द, शान्ति और सुख की बात पूछता है? कौन उस मृगको अन्नजल लाकर देता है? जैसे वह मृग उपद्रवमुक्त होनेके वाद उस गहन वनमे वहाँ जाता है जहाँ सरोवर होता है और वहाँ घास-पानी आदिका सेवन करके जैसे वह मृग पूर्ववत् विचरता है उसी प्रकार मैं भी विचरूँगा। साराश यह है कि मै इस प्रकारकी मृगचर्याका आचरण करूँगा और मैं मृगकी भाँति सयमवत बनूँगा। अनेक स्थलोमे विचरता हुआ यति मृगकी भाँति अप्रतिबद्ध रहे, मृग-

की भाँति विचरण करता हुआ मृगचर्याका सेवन करके, सावद्यको दूर करके विचरण करे। जैसे मृग घास-पानी आदिकी गोचरी करता है उसी प्रकार यति भी गोचरी करके सयमभारका निर्वाह करे। वह दुराहारके लिए गृहस्थका तिरस्कार न करे, उसकी निन्दा न करे, मैं भी ऐसा सयम आचरूँगा।"

"**एवं पुत्ता जहासुखं**"—हे पुत्र! जैसे तुझे सुख हो वैसा कर। इस प्रकार माता-पिताने अनुज्ञा दी। अनुज्ञा मिलते ही जैसे महानाग काचलीको त्याग कर चला जाता है वैसे ही वह मृगापुत्र ममत्वभावका छेदन करके, ससारको त्याग कर सयमधर्ममे सावधान हो गया और कचन, कामिनी, मित्र, पुत्र, जाति और सगे सम्बन्धियोका परित्यागी हो गया। जैसे वस्त्रको फटकार कर धूलको झाड डालते हैं वैसे ही वह भी समस्त प्रपचोको त्याग कर दीक्षा लेनेके लिए निकल पडा और पवित्र पचमहाव्रतसे युक्त हुआ, पाँच समितियोसे सुशोभित हुआ, त्रिगुप्तियोंसे अनुगुप्त हुआ, बाह्य और अभ्यन्तर बारह प्रकारके तपसे सयुक्त हुआ, ममत्व रहित हुआ, निरहकारी हुआ, स्त्री आदिके सगसे रहित हुआ और समस्त प्राणियोमे उसका समभाव हुआ। अन्नजल प्राप्त हो या न हो, सुख हो या दुख, जीवन हो या मरण, कोई निन्दा करे या स्तुति, कोई सम्मान दे या अपमान करे, उन सब पर वह समभाववान् हुआ। वह ऋद्धि, रस और सुख इन तीनो गारवके अह-पदसे विरक्त हुआ। मनदड, वचनदण्ड और तनदडकी निवृत्ति की। चार कषायोंसे विमुक्त हुआ। मायाशल्य, निदानशल्य तथा मिथ्यात्वशल्य इन तीन शल्योसे वह विरक्त हुआ। सात महाभयोसे अभय हुआ। हास्य और शोकसे निवृत्त हुआ। निदानरहित हुआ। रागद्वेषरूपी बन्धनसे छूट गया। वाछारहित हुआ। सभी प्रकारके विलासोसे रहित हुआ। कोई तलवारसे काटे या चन्दनका विलेपन करे, उनपर समभावी हुआ। पापास्रवके समस्त द्वार उसने बन्द कर दिये। वह शुद्ध अत करण

सहित धर्मध्यानादिक व्यापारसे प्रशस्त होता हुआ जिन-शासन-तत्त्वमे परायण हो गया। वह ज्ञानसे, आत्मचारित्रसे, सम्यक्त्वसे, तपसे और प्रत्येक महाव्रतकी पॉच भावनाओंसे अर्थात् पॉच महाव्रतोकी पच्चीस भावनाओंसे और निर्मलतासे वह अनुपमरूपमे शोभायमान हुआ। अन्तमे वह महाज्ञानी युवराज मृगापुत्र सम्यक् प्रकारसे बहुत वर्ष तक आत्म चारित्रकी परिसेवना कर, एक मासका अनशन करके सर्वोत्तम मोक्षगतिको प्राप्त हुआ।

प्रमाणशिक्षा—तत्त्वज्ञानियोंके द्वारा सप्रमाण सिद्ध की हुई बारह भावनाओमेंसे ससार-भावनाको दृढ करनेके लिए यहॉ मृगापुत्रके चरित्रका वर्णन किया गया है। यह विवेक-सिद्ध है कि ससार-अटवीमे परिभ्रमण करते हुए अनन्त दु ख है और उसमे भी, जिसमे लेश मात्र भी सुख नही है ऐसी नरक-अधोगतिके अनन्त दु खोंका वर्णन युवा-ज्ञानी योगीन्द्र मृगापुत्रने अपने माता-पिताके समक्ष किया है, जो मात्र ससारसे मुक्त होनेके लिए वैराग्यमय उपदेश प्रदर्शित करता है। जो आत्म-चारित्रको धारण करनेमे तप-परिषह आदिके बाह्य दु खोको दु ख माना है और महाअधोगतिके परिभ्रमणरूप अनन्त दुखोको वहिर्भाव मोहनीके कारण सुख माना है, यह देख कैसी भ्रम-विचित्रता है? आत्म-चारित्रका दु ख, दु ख नही किन्तु परम सुख है और फलत अनन्त सुख-तरगकी प्राप्तिका कारण है और भोग-विलास आदिका सुख जो क्षणिक एव बाहरसे दिखाई देनेवाला सुख है वह मात्र दु ख ही है। फलत अनन्त दु खका कारण है, इस बातको सप्रमाण सिद्ध करनेके लिए महाज्ञानी मृगापुत्रका वैराग्य यहाँ दिखाया गया है। इस महाप्रभावकारी, महान् यशस्वी मृगापुत्रकी भॉति जो तपादिक तथा आत्म-चारित्रादिक शुद्धाचरण करेगा वह उत्तम साधु त्रिलोकमे प्रसिद्ध और प्रधान परमसिद्धिदायक सिद्धगतिको प्राप्त करेगा। ससार-ममत्वको दु खवृद्धिरूप मानकर तत्त्वज्ञानी-पुरुष उस

मृगापुत्रकी भाँति ज्ञानदर्शनचारित्ररूप दिव्य चिन्तामणिको परम सुख और परमानन्दकी प्राप्तिके हेतु आराधते है।

महर्षि मृगापुत्रका सर्वोत्तम चरित्र (ससार भावनाके रूपमे) ससार-परिभ्रमणकी निवृत्तिका और उसीके साथ अनेक प्रकारकी निवृत्तिका उपदेश देता है। इस परसे अन्तर्दर्शनका नाम निवृत्तिबोध रखकर आत्म-चारित्रकी उत्तमताका वर्णन करते हुए मृगापुत्रका चरित्र यहाँ पूर्ण होता है। तत्त्वज्ञानी पुरुष निरन्तर ससारपरिभ्रमणकी निवृत्ति और सावद्य उपकरणकी निवृत्तिका पवित्र विचार करते रहते है।

इस प्रकार अन्तर्दर्शनके संसार-भावनारूप छठे चित्रमें
मृगापुत्रका चारित्र समाप्त हुआ।

सप्तम चित्र

आश्रव-भावना

बारह अविरति, सोलह कषाय, नव नोकषाय, पाँच मिथ्यात्व, और पन्द्रह योग ये सब मिलकर सत्तावन आश्रव-द्वार अर्थात् पापके प्रवेश होनेके नाले है।

दृष्टान्त—महाविदेहमे विशाल पुण्डरीकिणी नगरीके राज्य सिंहासनपर पुण्डरीक और कुण्डरीक नामके दो भाई आसीन थे। एक बार वहाँ तत्त्वविज्ञानी मुनिराज विहार करते हुए आये। मुनिके वैराग्य वचनामृतसे प्रभावित होकर कुण्डरीक दीक्षानुरागी हुआ, और घर आनेपर उसने पुण्डरीकको राज्य सौपकर चारित्र अगीकार कर लिया। रूखा-सूखा आहार करनेके कारण थोडे ही समयमे वह रोग-ग्रस्त हो गया, जिससे अन्तमे वह चारित्रसे भ्रष्ट हो गया। उसने, पुण्डरीकिणी महानगरीकी अशोक वाटिकामे आकर रजोहरण,

और मुखपट्टी वृक्षपर लटका दिये और वह इस बातकी निरन्तर चिन्ता करने लगा कि पुण्डरीक मुझे अब राज्य देगा या नही ? वन-पालने कुण्डरीकको पहचान लिया और उसने जाकर पुण्डरीकको अवगत कराया और निवेदन किया कि अत्यन्त आकुल-व्याकुल दशामे आपके भाई अशोक-वाटिकामे ठहरे हुए हैं। पुण्डरीकने वहाँ पहुँच कर कुण्डरीकके मनोगतभावोको जान लिया, और उसे चारित्रसे डगमगाते हुए देखकर कुछ उपदेश दिया और तत्पश्चात् उसे राज्य सौपकर घर चला आया।

एक हजार वर्ष प्रव्रज्या पालकर पतित होनेके कारण कुण्डरीक-की आज्ञाका सामन्त अथवा मत्री लोग कोई भी अवलम्बन नही करके उसे धिक्कारते थे। कुण्डरीकने राज्यमे आनेके बाद अधिक आहार कर लिया, इस कारण उसे रात्रिमे बहुत पीडा हुई और वमन हो गया, अप्रीतिके कारण उसके पास कोई नही आया, इसलिए उसके मनमे प्रचण्ड भाव जागृत हुआ और उसने निश्चय किया कि मुझे इस पीडासे शान्ति मिले तो फिर मैं सबेरे इन सबको देख लूँगा। इस प्रकारके महादुर्ध्यानसे मरकर वह सातवे नरकके अपय-ठाण पाथडेमे तैतीस सागरकी आयुको धारणकर अनत दु खमे जाकर उत्पन्न हुआ। कैसा विपरीत आश्रव-द्वार।

इस प्रकार सप्तम चित्रमें आश्रव-भावना समाप्त हुई।

●

अष्टम चित्र

संवर-भावना

संवर-भावना :—उपरोक्त आस्रव द्वारा और पाप-प्रनालको सर्व प्रकारसे रोकना (आते हुए कर्मसमूहको अटकाना) वह सवरभाव है।

दृष्टान्त (१) (कुडरीकका अनुसम्बन्ध) कुडरीकके मुखपत्ती इत्यादि उपकरण ग्रहण करके पुडरीकने निश्चय किया कि मुझे पहले महर्षि गुरुके पास जाना, और उसके बाद ही अन्न जल ग्रहण करना चाहिये।

नगे पैरोंसे चलनेके कारण उसके पैरोमे ककरो और कॉटोके चुभनेसे खूनकी धाराये बह निकली, फिर भी वह उत्तम ध्यानमे समताभावसे अवस्थित रहा। इस कारण यह महानुभाव पुडरीक मरकर समर्थ सर्वार्थसिद्धि विमानमे तैंतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु-सहित देव हुआ। देखो! आस्रवसे कुडरीककी कैसी दु.खदशा हुई और सवरसे पुडरीकको कैसी सुखदशा मिली।

दृष्टान्त (२)—श्री वज्रस्वामी सम्पूर्ण कचन और कामिनीके द्रव्यभावसे परित्यागी थे। एक बार, एक श्रीमन्तकी रुक्मिणी नामकी मनोहारिणी पुत्री वज्रस्वामीके उत्तम उपदेशको सुनकर उनपर मोहित हो गई। घर आकर उसने अपने माता-पितासे कहा कि—यदि मै इस शरीरसे किसीको अपने पतिके रूपमे स्वीकार करूँ तो केवल वज्रस्वामीको ही, अन्य किसीके साथ सम्बन्ध न करनेकी मेरी दृढ प्रतिज्ञा है। रुक्मिणीके माता-पिताने उसे बहुत-बहुत समझाया कि—"पगली! विचार तो कर कि कही मुनिराज विवाह करते है? उन्होने तो आस्रव न होने देनेकी सच्ची प्रतिज्ञा ग्रहण की है।" तथापि रुक्मिणीने उनका कहना न माना। निरुपाय होकर धनावा सेठ बहुत-सा धन और अपनी रूपवती रुक्मिणीको साथमे लेकर वज्रस्वामीके निकट जा पहुँचा और उनसे निवेदन किया कि—"यह लक्ष्मी आपके चरणोमे अर्पित है, आप इसका यथेच्छ उपयोग कीजिये और वैभव विलासमें लगाइये तथा इस मेरी महासुकोमला रुक्मिणी नामकी पुत्रीके साथ पाणिग्रहण कीजिये।" इतना कह कर वह वापिस अपने घर चला आया।

यौवन-सागरमे तैरती हुई उस रूपकी राशि रुक्मिणीने वज्र-

स्वामीको अनेक प्रकारसे भोग सम्बन्धी उपदेश दिया, भोगके सुख अनेक प्रकारसे वर्णन कर दिखाये, मनमोहक हावभाव तथा अन्य प्रकारके चलायमान करनेवाले अनेक उपाय किये, किन्तु वे सब व्यर्थ हुए। महासुन्दरी रुक्मिणी अपने मोहकटाक्षमे असफल हुई। उग्र चरित्र विजयमान वज्रस्वामी मेरुकी भाँति अचल और अडोल रहे। वे रुक्मिणीके मन, वचन और तनके सभी उपदेशो एव हावभावोसे लेशमात्र भी नही पिघले। ऐसी महाविशाल दृढतासे रुक्मिणीने बोध प्राप्त करके निश्चय किया कि यह समर्थ जितेन्द्रिय महात्मा कभी भी चलायमान होनेवाले नही हैं। लौह और पत्थरको पिघलाना तो सरल है, किन्तु इन महा पवित्र साधु वज्रस्वामीको पिघलानेके सम्बन्धमे आशा करना निरर्थक होनेके साथ अधोगतिकी कारणरूप है। इस प्रकार सुविचार करके उस रुक्मिणीने पिताके द्वारा प्रदत्त लक्ष्मीका शुभ क्षेत्रमे उपयोग करके चारित्रको ग्रहण किया, मन, वचन और कायको अनेक प्रकारसे दमन करके आत्मकल्याणकी साधना की। तत्त्वज्ञानी लोग इसे सवरभावना कहते हैं।

इस प्रकार अष्टम चित्रमें सवर-भावना समाप्त हुई।

●

नवम चित्र

निर्जरा-भावना

बारह प्रकारके तपके द्वारा कर्म समूहको जलाकर भस्मीभूत कर देनेका नाम निर्जराभावना है। तपके बारह प्रकारमे छह प्रकारके बाह्य और छह प्रकारके अन्तरग तप हैं। अनशन, ऊणोदरी, वृत्तिसक्षेप, रसपरित्याग, कायक्लेश और सलीनता ये छह बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावच्च, शास्त्रपठन, ध्यान और कायोत्सर्ग ये छह अभ्यन्तर तप है। निर्जरा दो प्रकारकी है—एक अकाम निर्जरा

और दूसरी सकाम निर्जरा। निर्जरा भावनापर हम एक विप्र-पुत्रका दृष्टान्त कहते हैं।

दृष्टान्त—किसी ब्राह्मणने अपने पुत्रको सात व्यसनोमे रुचिवान जानकर अपने घरसे निकाल दिया। वह वहाँसे निकल गया और उसने जाकर तस्कर-मण्डलीके साथ स्नेह-सम्बन्ध जोड़ लिया। उस मण्डलीके अग्रेसरने उसे अपने काममे पराक्रमी समझकर पुत्रके रूपमे स्थापित किया। वह विप्रपुत्र दुष्टोका दमन करनेमे दृढप्रहारी सिद्ध हुआ, इससे उसका उपनाम दृढप्रहारी रखा गया। वह दृढप्रहारी चोरोका अग्रणी बन गया और वह नगर, गाँवका नाश करनेमे बलवान, हिम्मतवाला सिद्ध हुआ। उसने बहुतसे प्राणियोके प्राण लिये। एक बार उसने अपने साथियोको ले जाकर एक बडे नगरको लूटा। दृढप्रहारी एक विप्रके घर बैठा था, उस विप्रके यहाँ बडे ही प्रेम भावसे क्षीर भोजन (खीर) बनाया गया था। उस विप्रके मनोरथी बालक उस खीरके पात्रको घेरे बैठे थे। दृढप्रहारी उस खीर-पात्रको ज्यों ही छूने लगा कि ब्राह्मणी बोली—"हे मूर्खराज! तू इसे छूकर क्यो अपवित्र कर रहा है? तू इतना भी नही समझता कि तेरे छू लेनेपर फिर यह खीर हमारे काममे नही आएगी।" यह वचन सुनकर दृढप्रहारीको प्रचण्ड क्रोध व्याप्त हो गया और उसने उस दीन स्त्रीको मार डाला। स्नान करता हुआ ब्राह्मण अपनी पत्नीकी सहायताके लिए दौड़ा हुआ आया, किन्तु उसने उसे भी परभवको पहुँचा दिया। इतनेमे घरमेसे दौडती हुई गाय आई और उसने अपने सीगोके द्वारा दृढप्रहारीको मारना प्रारम्भ किया किन्तु उस महादुष्टने उसे भी कालके गालमे पहुँचा दिया। उसी समय उस गायके पेटमेसे एक बछडा निकल पडा। उसे तडफता हुआ देखकर दृढप्रहारीके मनमे अब भारी पश्चात्ताप हुआ कि मुझे धिक्कार है, मैंने बडी भयंकर घोर हिंसाये कर डाली! मुझे अपने इस महापापसे कब छुटकारा मिलेगा? सचमुच! आत्म-कल्याणके सिद्ध करनेमे ही श्रेय है।

ऐसी उत्तम भावनाके साथ उसने पचमुष्टि केशलोच किया, और नगरके चौकमे आकर वह उग्र कायोत्सर्गसे अवस्थित हो गया। उसने पहले सारे नगरको सतापित किया था इसलिए लोगोंने भी उसे अनेक प्रकारसे दु ख देना प्रारम्भ किया। आते-जाते हुए लोगोके धूल-मिट्टी और ईंट पत्थरके फेकनेसे और तलवारकी मूठ मारनेसे उसे अत्यन्त सन्ताप हुआ। वहाँ लोगोने डेढ महीने तक उसका अपमान किया। बादमे जब लोग थक गये तो उन्होने उसे छोड दिया। दृढप्रहारी वहाँसे कायोत्सर्गका पालन कर नगरके दूसरे चौकमे ऐसे ही उग्र कायोत्सर्गसे अवस्थित हो गया। उस दिशाके लोगोने भी उसका इसी तरह अपमान किया। उन्होने भी डेढ महीने तग करके छोड दिया। वहाँसे कायोत्सर्गका पालन कर दृढप्रहारी उस नगरकी गलीमे गया। वहाँके लोगोने भी उसका इसी तरह महाअपमान किया। वहाँसे डेढ महीने बाद वह चौथी गलीमे डेढ मास तक रहा। वहाँ अनेक प्रकारके परिषहोको सहन करके वह क्षमामे लीन रहा। और छठे मासमे अनन्त कर्म समुदायको जलाकर अत्यन्त शुद्ध होते-होते वह कर्म रहित हो गया। उसने सब प्रकारके ममत्वका त्याग किया। वह अनुपम कैवल्यज्ञान पाकर मुक्तिके अनन्त सुखानन्दसे युक्त हो गया। यह निर्जराभावना दृढ हुई। अब—

●

दशम चित्र

लोकस्वरूपभावना

लोकस्वरूपभावना—इस भावनाका स्वरूप यहाँ सक्षेपमे कहना है। जैसे पुरुष दो हाथ कमरपर रखकर पैरोको चौडा करके खडा हो, वैसा ही लोक नाल अथवा लोकका स्वरूप जानना चाहिए। वह लोकस्वरूप तिरछे थालके आकारका है, अथवा खडे मृदगके

समान है। नीचे भुवनपति व्यन्तर और सात नरक है, मध्य भागमे अढाई द्वीप है, ऊपर बारह देवलोक, नौ ग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर विमान और उनके ऊपर अनन्त सुखमय पवित्र सिद्धगतिकी पडौसी सिद्ध-शिला है, ऐसा लोकालोक प्रकाशक सर्वज्ञ सर्वदर्शी और अनुपम केवल ज्ञानियोने कहा है। इस प्रकार सक्षेपमे लोकस्वरूप-भावनाका कथन पूर्ण हुआ।

पाप-प्रनालको रोकनेके लिए आस्रवभावना और सवरभावना तथा तपरूप महावृक्षकी वृद्धिके लिए निर्जराभावना एव लोकस्व-रूपका किंचित् तत्त्व जाननेके लिए लोकस्वरूपभावना, इस दर्शनके इनचार चित्रोमे पूर्णताको प्राप्त हुई।

दशम चित्र समाप्त

ज्ञान, ध्यान, वैराग्यमय, उत्तम जहाँ विचार।
ए भावे शुभभावना, ते उतरे भव पार॥

(ज्ञान, ध्यान एव वैराग्यपूर्ण उत्तम विचारोके साथ जो इन शुभभावनाओका चिन्तन करता है, वह ससारसे पार हो जाता है)

●

मोक्षमाला

(बालावबोध)

उपोद्घात

निर्ग्रन्थ प्रवचनके अनुसार सक्षेपमे इस ग्रन्थकी रचना करता हूँ। प्रत्येक शिक्षा-विषयरूपी मोतीसे इसकी पूर्णाहुति होगी। आडम्बरी नाम ही गुरुत्वका कारण है, ऐसा समझते हुए भी परिणामत अप्रभुत्व रहा होनेसे ऐसा किया है, वह उचित सिद्ध होओ। उत्तम तत्त्वज्ञान और परम सुशीलका उपदेश देनेवाले पुरुष कुछ कम नही हुए हैं, उसी प्रकार यह ग्रन्थ भी कही उससे उत्तम अथवा समानतारूप नही है, किन्तु विनयके रूपमे उन उपदेशकोके धुरन्धर प्रवचनोके आगे यह कनिष्ठ है। यह भी प्रमाणभूत है कि प्रधान पुरुषके निकट अनुचरकी आवश्यकता है, उसी प्रकार वैसे धुरन्धर ग्रन्थके उपदेशरूप बीजारोपण एव अत करण कोमल करनेके लिए ऐसे ग्रन्थका प्रयोजन है।

इस प्रथम दर्शन और दूसरे अन्य दर्शनोमे तत्त्वज्ञान तथा सुशीलकी प्राप्तिके लिए और परिणामत अनन्त सुख-तरगको प्राप्त करनेके लिए जो-जो साध्य-साधन श्रमण भगवान् ज्ञातपुत्रने प्रकाशित किये हैं उनका स्वल्पतासे किचित् तत्त्वसचय करके उसमे महापुरुषोके छोटे-छोटे चरित्र एकत्र करके इस भावनाबोध और इस मोक्षमालाको विभूपित किया है। वह—"विदग्ध-मुखमडन भवतु"

(सवत् १९४३) कर्ता पुरुष

शिक्षण पद्धति और मुखमुद्रा

यह एक स्याद्वादतत्त्वावबोध वृक्षका बीज है। इस ग्रन्थमे तत्त्व

प्राप्तिके लिए जिज्ञासा उत्पन्न कर सकनेका कुछ अशोमे भी सामर्थ्य विद्यमान है, यह मै समभावसे कहता हूँ। पाठक और वाचक वर्गसे विशेष अनुरोध है कि शिक्षापाठका पठन-पाठन करनेकी अपेक्षा यथाशक्ति मनन करना और उसके तात्पर्यका अनुभव करना, जिनकी समझमे न आता हो उन्हे ज्ञाता शिक्षक अथवा मुनियोके द्वारा समझना और यदि ऐसा योग न मिले तो पाँच-सात बार उन पाठोको पढ लेना। एक पाठको पढ लेनेके बाद आधा घडी विचार करके अन्त - करणसे पूछना चाहिए कि क्या तात्पर्य प्राप्त हुआ ? उस तात्पर्यमेसे हेय, ज्ञेय और उपादेय क्या है ? इसपर विचार करना। ऐसा करनेसे सम्पूर्ण ग्रन्थ समझमे आ सकेगा। हृदय कोमल होगा, विचारशक्ति विकसित होगी और जैन तत्त्वपर सम्यक् श्रद्धा होगी। यह ग्रन्थ केवल पाठ करनेके लिए नही, किन्तु मनन करनेके लिए है। इसमें अर्थरूप शिक्षाकी योजना की है। वह योजना "**बालावबोध**" रूप है। "**विवेचन**" और "**प्रज्ञावबोध**" भाग भिन्न है, यह इसमेंका एक अश है, तथापि सामान्य तत्त्वरूप है।

जिन्हे स्वभाषा सम्बन्धी अच्छा ज्ञान है और नौ तत्त्व तथा सामान्य प्रकरण ग्रन्थोंको जो समझ सकते है उन्हे यह ग्रन्थ विशेष बोधदायक सिद्ध होगा। इतना अवश्य अनुरोध है कि छोटे बालकोको इन शिक्षापाठोका तात्पर्य विधिपूर्वक समझाना चाहिये।

ज्ञानशालाके विद्यार्थियोको शिक्षापाठ कण्ठस्थ कराना चाहिये, और बारबार समझाना चाहिये। इसके लिए जिन-जिन ग्रन्थोकी सहायता लेना आवश्यक हो वह ली जाय। एक दो बार सम्पूर्ण पुस्तकके सीख लेनेपर फिर उसे उल्टे—पीछेसे चलाना चाहिए।

मै समझता हूँ कि सुज्ञवर्ग इस पुस्तककी ओर कटाक्ष दृष्टिसे नही देखेगा। अतिगहन चिन्तन करनेपर यह मोक्षमाला मोक्षका कारणरूप बन जायेगी। इसमे मध्यस्थतापूर्वक तत्त्वज्ञान और शीलका बोध देनेका उद्देश्य है।

इस पुस्तकको प्रसिद्ध करनेका मुख्य हेतु, उगते हुए नवयुवक जो अविवेकपूर्ण विद्या प्राप्त करके आत्मसिद्धिसे भ्रष्ट होते हैं उनकी वह भ्रष्टता रोकनेका भी है।

यथेच्छ उत्तेजन नही होनेसे लोगोकी भावना कैसी होगी, इसका विचार किये बिना ही यह साहस किया है, मैं मानता हूँ कि वह फलदायक होगा। पाठशालाओमे पाठकोको भेटस्वरूप देनेमे उत्साहित होनेके लिए और जैन पाठशालाओमे इसका अवश्य उपयोग करनेके लिए मेरा अनुरोध है। तब ही पारमार्थिक हेतु सिद्ध होगा।

शिक्षापाठ १ : वाचकसे अनुरोध

वाचक! मैं आज तुम्हारे हस्तकमलमे आती हूँ। मुझे सावधानीपूर्वक पढना। मेरे कहे हुए तत्त्वको हृदयमे धारण करना। मैं जो-जो बात कहूँ उस पर विवेकपूर्वक विचार करना। यदि ऐसा करोगे तो तुम ज्ञान, ध्यान, नीति, विवेक, सद्गुण और आत्मशान्तिको पा सकोगे।

तुम जानते होगे कि बहुतसे अज्ञानी लोग नही पढने योग्य पुस्तकें पढकर अपना समय वृथा खो देते है और कुमार्ग पर चढ जाते हैं। वे इस लोकमे अपयश पाते हैं तथा परलोकमे नीच गतिको प्राप्त होते हैं।

तुमने जिन पुस्तकोको पढा है और अभी पढते हो वे पुस्तकें मात्र ससारकी हैं, किन्तु यह पुस्तक तो इस भव और परभव दोनोमे तुम्हारा हित करेगी। इसमे भगवान्के कहे हुए वचनोका यत्किचित् उपदेश किया है।

तुम इस पुस्तककी किसी भी प्रकारसे अविनय मत करना, इसे फाडना नही, धब्बे मत डालना अथवा इसे अन्य किसी भी प्रकारसे मत बिगाड़ना। सारा काम विवेकसे लेना। विचक्षण पुरुषोने कहा है कि जहाँ विवेक है वही धर्म है।

तुमसे एक यह भी अनुरोध है कि जिन्हे पढना न आता हो और उनकी इच्छा हो तो यह पुस्तक उन्हे क्रमश. पढकर सुनाना ।

तुम्हे जो बात समझमें न आवे वह समझदार पुरुषोसे समझ लेना । समझनेमे आलस्य या मनमे कोई शका मत करना ।

इससे तुम्हारे आत्माका हित हो, तुम्हे ज्ञान, शान्ति और आनन्द प्राप्त हो, तुम परोपकारी, दयालु, क्षमावान्, विवेकी और बुद्धिशाली बनो ऐसी शुभ याचना अर्हंत् भगवान्के प्रति करके मै यह पाठ पूर्ण करता हूँ ।

शिक्षा पाठ २ : सर्वमान्यधर्म

(चौपाई)

धर्मतत्त्व जो पूछ्यु मने, तो संभळावुं स्नेहे तने;
जे सिद्धान्त सकळनो सार, सर्वमान्य सहुने हितकार ॥ १ ॥
भाख्यु भाषणमां भगवान्, धर्म न बीजो दया समान;
अभयदान साथे संतोष, द्यो प्राणीने, दळवा दोष ॥ २ ॥
सत्य शीळने सघळां दान, दया होईने रह्यां प्रमाण;
दया नहीं तो ए नहीं एक, विना सूर्य किरण नहीं देख ॥ ३ ॥
पुष्पपांखडी ज्यां दूभाय, जिनवरनी त्यां नहीं आज्ञाय;
सर्व जीवनुं इच्छो सुख, महावीरनी शिक्षा मुख्य ॥ ४ ॥
सर्व दर्शने ए उपदेश, ए एकान्ते, नही विशेष;
सर्व प्रकारे जिननो बोध, दया दया निर्मळ अविरोध ॥ ५ ॥
ए भवतारक सुन्दर राह, धरिये तरिये करी उत्साह;
धर्म सकळनुं ए शुभ मूळ, ए वण धर्म सदा प्रतिकूळ ॥ ६ ॥
तत्त्वरूपथी ए ओळखे, ते जन पहोंचे शाश्वत सुखे;
शांतिनाथ भगवान प्रसिद्ध, राजचन्द्र करुणाए सिद्ध ॥ ७ ॥

जो धर्मका तत्त्व मुझसे पूछा है तो वह तुझे स्नेहपूर्वक सुनाता हूँ । यह धर्मतत्त्व सकल-सिद्धान्तका सार है, सर्वमान्य है और सर्व-को हितकारी है ॥ १ ॥

भगवान्‌ने अपने उपदेशमे कहा है कि दयाके समान दूसरा धर्म नही है। दोषोको नष्ट करनेके लिए अभयदानके साथ प्राणियोको सन्तोष प्रदान करो ॥ २ ॥

सत्य, शील और सब प्रकारके दान, दयाके होने पर ही प्रमाण हैं। जिस प्रकार सूर्यके बिना किरणे दिखाई नही देती, उसी प्रकार दयाके न होने पर सत्य, शील और दानमेसे एक भी गुण नही है ॥३॥

एक पुष्पकी पँखुडीको भी कष्ट हो वैसी प्रवृत्ति करनेकी जिनेन्द्र भगवान्‌की आज्ञा नही है। सर्व जीवोंके सुखकी कामना करना यही महावीरकी मुख्य शिक्षा है ॥ ४ ॥

सर्व दर्शनोमे इस दयाका उपदेश है परन्तु, वहाँ एकान्त कथन है, विशिष्ट नही। सम्पूर्ण रूपसे दयाका उत्कृष्ट, निर्मल और अविरोध उपदेश श्री जिनेन्द्रदेवने दिया है ॥ ५ ॥

यह ससारसे पार उतारनेवाला सुन्दर मार्ग है, इसे उत्साहसे धारण करके ससारको पार करना चाहिये। यह सकल धर्मका शुभ मूल है। इसके बिना धर्म सदा प्रतिकूल रहता है ॥ ६ ॥

जो मनुष्य इसे तत्त्वरूपसे पहचानते हैं वे शाश्वत सुखको प्राप्त करते हैं, राजचन्द्र कहते हैं कि शान्तिनाथ भगवान् करुणासे सिद्ध हुए हैं, यह प्रसिद्ध है ॥ ७ ॥

शिक्षापाठ ३ : कर्मके चमत्कार

मै तुमसे कुछ सामान्य विचित्रताएँ कह रहा हूँ। यदि तुम इन पर विचार करोगे तो तुम्हे परभवकी श्रद्धा दृढ होगी।

एक जीव सुन्दर, पलग पर—पुष्प-शैयामे शयन करता है और एकको फटी हुई गुदडी भी नही मिलती। एक भाँति-भाँतिके भोजनोसे तृप्त रहता है और एकको काली ज्वारके भी लाले पडते है। एक अगणित लक्ष्मीका उपभोग करता है और एक फूटी बादामके लिए घर-घर भटकता फिरता है। एक मधुर वचनोंसे मनुष्यका मन हरता

है और एक अवाचक जैसा होकर रहता है। एक सुन्दर वस्त्रालकारसे विभूषित होकर फिरता है और एकको प्रखर शीतकालमे ओढनेको फटा कपडा भी नही मिलता। एक रोगी है और एक प्रबल है। एक बुद्धिशाली है और एक जडभरत है। एक मनोहर नयनवाला है और एक अन्धा है। एक लूला है और एक लँगडा है। एक कीर्तिमान है और एक अपयश भोगता है। एक लाखो अनुचरो पर हुक्म चलाता है और एक लाखोके ताने सहन करता है। एकको देखकर आनन्द होता है और एकको देखकर वमन होता है। एक सम्पूर्ण इन्द्रियोवाला है और एक अपूर्ण है। एकको दीन दुनियाका लेशमात्र भान नही है और एकके दु खकी सीमा नही है।

कोई गर्भमे आते ही मरणको प्राप्त होता है, एक जन्म लेते ही तुरत मर जाता है, कोई मरा हुआ अवतरा तो कोई सौ वर्षका वृद्ध होकर मरता है।

किसीका मुख, भाषा और स्थिति समान नही है, मूर्ख राजगद्दी पर क्षेम-क्षेमके उद्गारोसे बधाई पाते हैं और समर्थ विद्वान् धक्का खाते है।

इस प्रकार समस्त जगत्की विचित्रता भिन्न-भिन्न प्रकारसे तुम देखते हो, क्या इस परसे तुम्हे कोई विचार आता है? मैने कहा है, फिर भी विचार आता हो तो कहो कि यह विचित्रता किस कारणसे होती है?

अपने बाँधे हुए शुभाशुभ कर्मसे समस्त ससारमे भ्रमण करना पडता है। परभव नही माननेवाले स्वय ये विचार किसके द्वारा करते है? इस पर यथार्थ विचार करे तो अपनी यह बात वे भी मान्य रखे।

शिक्षापाठ ४ : मानवदेह

[1]तुमने सुना तो होगा कि विद्वान् लोग मानव देहको अन्य सब

१. देखो भावनाबोध, पचम चित्र-प्रमाणशिक्षा।

देहोकी अपेक्षा उत्तम कहते है, किन्तु उत्तम कहनेका कारण सम्भवत तुम्हे ज्ञात नही होगा इसलिये लो मै कहूँ।

यह ससार बहुत दु खसे भरा हुआ है। ज्ञानीजन इसमेंसे तिर कर पार होनेका प्रयत्न करते हैं। मोक्षको साधकर वे अनन्त सुखमे विराजमान होते हैं। यह मोक्ष अन्य किसी देहसे मिलनेवाला नही है। देव, तिर्यंच या नरक इनमेंसे किसी भी गतिसे मोक्ष प्राप्त नही होता, केवल मानवदेहसे ही मोक्षकी प्राप्ति है।

अब तुम कहोगे कि सभी मनुष्योको मोक्ष क्यो नही होता? इसका उत्तर भी मैं कह दूँ। जो मानवताको समझते हैं, वे ससार शोकसे पार हो जाते हैं। जिसमे विवेक बुद्धिका उदय हुआ हो उसे विद्वज्जन मानवता कहते हैं। उसके द्वारा सत्यासत्यके निर्णयको समझकर परमतत्त्व, उत्तम आचार और सद्धर्मका सेवन करके वे अनुपम मोक्षको पाते हैं। मनुष्यके शरीरकी दिखावटसे विद्वान् उसे मनुष्य नही कहते। परन्तु उसके विवेकके कारण उसे मनुष्य कहते है। जिसके दो हाथ, दो पैर, दो आँखे, दो कान, एक मुख, दो होठ और एक नाक हो, वह मनुष्य है ऐसा हमे नही मानना चाहिए, यदि ऐसा समझे तो हमे बन्दरको भी मनुष्य मानना चाहिए। उसने भी इसप्रकारका सब प्राप्त कियाहै, अपितु विशेषमे एक पूँछ भी है। तब क्या उसे महामनुष्य कहना चाहिए? नही नही। जो मानवता समझता है वही मानव कहा जाता है?

ज्ञानी लोग कहते है, कि यह भव वहुत दुर्लभ है, अतिपुण्यके प्रभावसे इस देहकी प्राप्ति होती है, इसलिए इसके द्वारा शीघ्रतासे आत्मसार्थक कर लेना चाहिए। अयमतकुमार, गजसुकुमार जैसे छोटे बालक भी मानवताको समझनेसे मोक्षको प्राप्त हुए। मनुष्यमे जो विशेष शक्ति है उस शक्तिसे वह मदोन्मत्त हाथी जैसे प्राणीको भी वशमे कर लेता है इसी शक्तिके द्वारा यदि वह अपने मनरूपी

हाथीको वशमे कर ले तो कितना कल्याण हो !

किसी भी अन्य देहमे पूर्ण सद्विवेकका उदय नही होता और मोक्षके राजमार्गमे प्रवेश नही हो सकता। इसलिए हमे मिले हुए इस बहुत दुर्लभ मानव देहको सफल कर लेना आवश्यक है। बहुतसे मूर्ख दुराचारमे, अज्ञानमे, विषयमे और अनेक प्रकारके मदमे इस प्राप्त मानव देहको वृथा गुमा देते हैं, अमूल्य कौस्तुभ खो बैठते हैं। ऐसे लोग नाम मात्रके मानव कहे जा सकते है, अन्यथा वे वानर-रूप ही हैं ।

मौतकी पल निश्चितरूपसे हम नही जान सकते, इसलिए जैसे बने वैसे धर्ममे तत्काल सावधान होना चाहिए।

शिक्षापाठ ५ : अनाथी मुनि—भाग १

अनेक प्रकारकी ऋद्धिवाला मगधदेशका राजा श्रेणिक अश्व-क्रीडाके लिए मडिकुक्ष नामके वनमे निकल पडा। वनकी विचित्रता मनोहारिणी थी। वहाँ नाना-प्रकारके वृक्ष खडे थे, नाना-प्रकारकी कोमल बेले घटाटोप छाई हुई थी। नाना-प्रकारके पक्षी आनन्दसे उनका सेवन कर रहे थे, नाना-प्रकारके पक्षियोंके मधुर गान वहाँ सुनाई पड़ते थे, नाना-प्रकारके फूलोसे वह वन छाया हुआ था, नाना-प्रकारके जलके झरने वहाँ बहते थे, सक्षेपमे, वह वन नन्दन-वन्न जैसा लगता था। उस वनमे एक वृक्षके नीचे महा समाधिवन्त किन्तु सुकुमार और सुखोचित मुनिको उस श्रेणिकने बैठे हुए देखा। उनका रूप देखकर उस राजाको अत्यन्त आनन्द हुआ। उनके अनुपमेय रूपसे विस्मित होकर वह मन ही मन उनकी प्रशसा करने लगा। अहो ! इन मुनिका कैसा अद्भुत वर्ण है ! इनका कैसा मनोहर रूप है ! इनकी कैसी अद्भुत सौम्यता है ! यह कैसी विस्मयकारक क्षमाके धारक हैं ! इनके अगसे वैराग्यका कैसा उत्तम प्रकाश

निकल रहा है। अहो! इनकी कैसी निर्लोभता दीखती है! यह सयति कैसी निर्भय नम्रता धारण किये हुए हैं! यह भोगसे कैसे विरक्त है! इसप्रकार चिन्तवन करते-करते, आनन्दित होते-होते, स्तुति करते-करते, धीरे-धीरे चलते हुए प्रदक्षिणा देकर उन मुनिको वदन करके न अति-समीप और न अति-दूर ऐसे वह श्रेणिक बैठा। बादमे दोनो हाथोको जोडकर विनयसे उसने उन मुनिसे पूछा—"हे आर्य! आप प्रशसा करने योग्य तरुण हैं, भोग-विलासके लिए आपकी वय अनुकूल है, ससारमे नाना-प्रकारके सुख विद्यमान हैं। ऋतु-ऋतुके काम-भोग, जल सम्बधी विलास तथा मनोहारिणी स्त्रियोके मुख-वचनोका मधुर श्रवण होते हुए भी इन सबका त्याग करके मुनित्वमे आप महा उद्यम कर रहे हैं, इसका क्या कारण है? यह मुझे अनुग्रह करके कहिए।" राजाके ऐसे वचन सुनकर मुनिने कहा—"हे राजन्! मै अनाथ था। मुझे अपूर्व वस्तुका प्राप्त करानेवाला, योगक्षेमका करनेवाला, मुझ पर अनुकम्पा लानेवाला, करुणा-से परम-सुखको देनेवाला कोई मेरा मित्र नही हुआ। यह कारण मेरे अनाथीपनेका था।"

शिक्षापाठ ६ : अनाथी मुनि–भाग २

श्रेणिक, मुनिके भाषणसे किंचित् हास्य करके बोले, "आप जैसे महाऋद्धिवन्तके नाथ क्यो न हो? यदि कोई नाथ नही है तो मैं होता हूँ। हे भयत्राण! आप भोग भोगिये। हे सयति! मित्र, जातिसे दुर्लभ ऐसे अपने मनुष्यभवको सुलभ कीजिए!" अनाथीने कहा—'अरे श्रेणिक राजा! परन्तु तू तो स्वय अनाथ है, तो मेरा नाथ क्या होगा? जो निर्धन है वह धनाढ्य कहाँसे बनायेगा? अबुधजीव बुद्धिदान कहाँसे देगा? अज्ञ विद्वत्ता कहाँसे देगा? वध्या सन्तान कहाँसे देगी? जब तू स्वय अनाथ है तो मेरा नाथ क्योकर बनेगा?' मुनिके वचनसे राजा अति आकुल

और अति विस्मित हुआ। इससे पूर्व कभी जो वचन नही सुने थे ऐसे वचन यतिके मुखसे सुनकर वह शकित हुआ और बोला—"मै अनेक प्रकारके अश्वोका भोगी हूँ, अनेक प्रकारके मदोन्मत्त हाथियोका स्वामी हूँ, अनेक प्रकारकी सेना मेरे आधीन है, नगर, ग्राम, अन्त पुर और चतुष्पादकी मेरे कोई न्यूनता नही है, मनुष्य सम्बन्धी सब प्रकारके भोग मुझे प्राप्त है, अनुचर मेरी आज्ञाका भलीभाँति पालन करते है, मेरे यहाँ पाँचो प्रकारकी सम्पत्ति विद्यमान है, अनेक मनवाछित वस्तुएँ मेरे पास हैं। मै ऐसा महान् होते हुए भी अनाथ कैसे हो सकता हूँ? कदाचित् हे भगवन्! आपने मिथ्या कहा हो।" मुनिने कहा, "राजन्! मेरे कहनेको तू न्यायपूर्वक नही समझा। अब मै जैसे अनाथ हुआ, और जैसे मैने ससारका त्याग किया वह तुझे कहता हूँ। उसे एकाग्र और सावधान चित्तसे सुन। सुननेके बाद तू अपनी शकाका सत्यासत्य निर्णय करना —

"कोशाम्बी नामकी अति प्राचीन और विविध प्रकारकी भव्यतासे भरपूर एक सुन्दर नगरी है। वहाँ ऋद्धिसे परिपूर्ण धनसचय नामके मेरे पिता रहते थे। हे महाराज! यौवनके प्रथम भागमे मेरी आँखे अति वेदनासे घिर गई और समस्त शरीरमे अग्नि जलने लगी। शस्त्रसे भी अति तीक्ष्ण यह रोग शत्रुकी भाँति मुझपर कुपित हो गया। आँखोकी उस असह्य वेदनासे मेरा मस्तक दुखने लगा। वज्रके प्रहार जैसी, दूसरोको भी रौद्र भय उपजाने वाली इस दारुण वेदनासे मै अत्यन्त शोकमे था। वैद्यक-शास्त्रमे निपुण बहुतसे वैद्यराज मेरी इस वेदनाको दूर करनेके लिए आये और उन्होने अनेक औषध-उपचार किये, परन्तु वे सब वृथा हुए। वे महानिपुण गिने जानेवाले वैद्यराज मुझे उस रोगसे मुक्त न कर सके। हे राजन्! यही मेरा अनाथपना था। मेरी आँखकी वेदनाको

दूर करनेके लिए मेरे पिताने सम्पूर्ण धन देना प्रारम्भ किया, परन्तु उससे भी मेरी वह वेदना दूर नही हुई। हे राजन्! यही मेरा अनाथपना था। मेरी माता पुत्रके दु खमे अत्यन्त दु खार्त थी, परन्तु वह भी मुझे उस रोगसे मुक्त नही करा सकी। हे राजन! यही मेरा अनाथपना था। मेरे सहोदर बडे और छोटे भाई भी जितना बन सका वह सब परिश्रम कर चुके, परन्तु मेरी वह वेदना दूर न हुई। हे राजन्! यही मेरा अनाथपना था। मेरी सहोदरा बडी और छोटी बहिनोसे भी मेरा वह दु ख दूर नही हुआ। हे महाराजा! यही मेरा अनाथपना था। मेरी पतिव्रता स्त्री, जो मुझपर अनुरक्त और प्रेमवती थी वह अपने आँसुओंसे हृदयको भिगोती थी, उसके अन्न पानी देनेपर भी और नाना प्रकारके उबटन, चुवा आदि सुगधित पदार्थ, तथा अनेक प्रकारके फूल चन्दन आदिके जाने-अनजाने विलेपन किये जानेपर भी, मै उस विलेपनसे अपने रोगको शान्त नही कर सका। क्षण भर भी अलग न रहनेवाली वह स्त्री भी मेरे रोगको दूर नही कर सकी। हे महाराजा! यही मेरा अनाथपना था। इस तरह किसीके प्रेमसे, किसीकी औषधिसे, किसीके विलापसे और किसीके परिश्रमसे वह रोग शान्त न हुआ, और मैने उस समय वारम्बार असह्य वेदना भोगी। तत्पश्चात् मुझे प्रपञ्ची ससारके प्रति खेद उत्पन्न हुआ। एक बार यदि इस महा विडम्बनामय वेदनासे मुक्त हो जाऊँ तो खती, दती और निरारम्भी प्रव्रज्याको धारण करूँ ऐसा विचार करके मैं सो गया। जब रात व्यतीत हो गई तब हे महाराज! मेरी वह वेदना क्षय हो गई और मैं निरोगी हो गया। तब मैंने माता, पिता, स्वजन-बाधव आदिसे पूछकर प्रात काल महाक्षमावन्त, इन्द्रियनिग्रही और आरम्भोपाधिसे रहित अनगारत्व धारण किया।

शिक्षापाठ ७ : अनाथी मुनि—भाग ३

हे श्रेणिक राजा ! तत्पश्चात् मै आत्मा-परात्माका नाथ हुआ। अब मै सब प्रकारके जीवोका नाथ हूँ। तुझे जो शका हुई थी वह अब दूर हो गई होगी। इस प्रकार समस्त जगत—चक्रवर्ती पर्यन्त अशरण और अनाथ है। जहाँ उपाधि है वहाँ अनाथता है। इसलिए जो मैं कहता हूँ उस कथनका तू मनन करना। निश्चय मानना कि अपना आत्मा ही दु:खकी भरी हुई वैतरणीका करनेवाला है; अपना आत्मा ही क्रूर शाल्मली वृक्षके दु खोको उत्पन्न करनेवाला है; अपना आत्मा ही वाछित वस्तुरूपी दुधारू कामधेनु-गायके सुखको उत्पन्न करनेवाला है, अपना आत्मा ही नन्दनवनकी भाँति आनन्द-कारी है, अपना आत्मा ही कर्मको करनेवाला है, अपना आत्मा ही उस कर्मको टालनेवाला है, अपना आत्मा ही दु खोपार्जन करने-वाला है, अपना आत्मा ही सुखोपार्जन करनेवाला है, अपना आत्मा ही मित्र और अपना आत्मा ही शत्रु है; अपना आत्मा ही जघन्य आचारमे स्थित और अपना आत्मा ही निर्मल आचारमे स्थित रहता है।

इस प्रकार श्रेणिकको उस अनाथी मुनिने आत्म-प्रकाशक उपदेश दिया। श्रेणिक राजाको बहुत सन्तोष हुआ। वह दोनों हाथोको जोडकर इस प्रकार बोला—'हे भगवन् ! आपने मुझे भलीभाँति उपदेश दिया, आपने जैसा था वैसा अनाथपना कह बताया। महर्षि ! आप सनाथ, आप सबाधव और आप सधर्म है। आप सभी अनाथोके नाथ है। हे पवित्र सयति ! मै क्षमायाचना करता हूँ। आपकी ज्ञानपूर्ण शिक्षासे मुझे लाभ हुआ है। धर्मध्यानमे विघ्न-कारक भोग भोगनेके सम्बन्धमे हे महाभाग्यवन्त ! मैने आपको जो आमन्त्रण दिया, उस सम्बन्धमें अपने अपराधको मस्तक पर धारण करके क्षमायाचना करता हूँ।" इस प्रकारसे स्तुति करके राजपुरुष-केसरी श्रेणिक विनयसे प्रदक्षिणा करके अपने स्थानको गया।

महातपोधन, महामुनि, महाप्रज्ञावन्त, महायशवन्त, महानिर्ग्रन्थ और महाश्रुत अनाथी मुनिने मगधदेशके राजा श्रेणिकको अपने बीते हुए अनुभूत चरित्रसे जो उपदेश दिया वह सचमुच अशरणभावना सिद्ध करता है। महामुनि अनाथीके द्वारा सहन की गई वेदनाओंके समान अथवा इससे भी अत्यन्त विशेष वेदनाको, अनन्त आत्माओको भोगते हुए हम देखते हैं, यह कैसा विचारणीय है। ससारमे अशरणता और अनन्त अनाथता छाई हुई है। उसका त्याग उत्तम तत्त्वज्ञान और परम शीलके सेवन करनेसे ही होता है। यही मुक्तिका कारण है। जैसे ससारमे रहते हुए अनाथी अनाथ थे उसी तरह प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके बिना सदैव अनाथ ही है। सनाथ होनेके लिए सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरुको जानना आवश्यक है।

शिक्षापाठ ८ : सत्देवतत्त्व

हमे तीन तत्त्व अवश्य जान लेने चाहिएँ। जब तक इन तीन तत्त्वोंके सम्बन्धमे अज्ञानता रहती है तब तक आत्महित नही होता। ये तीन तत्त्व है—सत्देव, सत्धर्म और सत्गुरु। इस पाठमे मे सत्देवस्वरूपके सम्बन्धमे कुछ कहता हूँ।

जिन्हे कैवल्यज्ञान और कैवल्यदर्शन प्राप्त होता है, जो कर्म समुदायको महाउग्र तपोध्यानके द्वारा विशोधन करके जला देते हैं, जिन्होने चन्द्रमा और शखसे भी उज्ज्वल शुक्लध्यान प्राप्त किया है, चक्रवर्ती राजाधिराज अथवा राजपुत्र होते हुए भी जो ससारको एकान्त अनन्त शोकका कारण मानकर उसका त्याग करते है, जो केवल दया, शान्ति, क्षमा, वीतरागता और आत्मसमृद्धि से त्रिविध तापका लय करते है, जो ससारमे मुख्यताको प्राप्त ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मोंको भस्मीभूत करके आत्म स्वरूपमे विहार करते हैं, जो सर्व कर्मोंके मूलको भस्म कर देते हैं, जो केवल मोहनीजन्य कर्मका त्याग करके निद्रा जैसी

तीव्र वस्तुको सर्वथा दूर करके क्षीण हुए कर्मोके रहने तक उत्तम शीलका सेवन करते है, जो वीतरागतासे कर्म-ग्रीष्मसे अकुलाये हुए पामर प्राणियोको परम शान्ति प्राप्त करानेके लिए शुद्ध बोधबीजका मेघधारा-वाणी (अविरलशब्दघनौघा) से उपदेश करते है, जिन्हे किसी भी समय किंचित्मात्र भी सासारिक वैभवविलासका स्वप्नाश भी शेष नही रहा, जो कर्मदलको क्षय करनेके पूर्व छद्मस्थता जानकर अपनी श्रीमुख-वाणीसे उपदेश नही करते, जो पाँच प्रकारके अन्तराय, हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, शोक, मिथ्यात्व, अज्ञान, अप्रत्याख्यान, राग, द्वेष, निद्रा और काम इन अठारह दूषणोसे रहित है, जो सच्चिदानन्द स्वरूपसे विराजमान है और जिनमें महाउद्योतकर बारह गुण प्रगट होते है, जिनका जन्म, मरण और अनन्त ससार नष्ट हो गया है उन्हे निर्ग्रन्थ आगममे सत्‌देव कहा गया है। वे दोष रहित शुद्ध आत्म स्वरूपको प्राप्त होनेसे पूज्य परमेश्वर कहे जाते है। जहाँ अठारह दोषोमे से एक भी दोष होता है वहाँ सत्‌देवका स्वरूप नही बनता। यह परमतत्त्व उत्तम सूत्रोसे विशेष जान लेना आवश्यक है।

शिक्षापाठ ९ : सद्धर्मतत्त्व

यह आत्मा अनादि कालसे कर्मजालके बन्धनमे बद्ध होकर संसारमें भटकता रहता है। उसे क्षण भरको भी सच्चा सुख प्राप्त नही होता। वह अधोगतिका सेवन किया करता है, और अधोगतिमे गिरते हुए आत्माको रोक रखनेवाली वस्तुका नाम 'धर्म' कहलाता है। सर्वज्ञ भगवान्‌ने उस धर्मतत्त्वके भिन्न-भिन्न भेद कहे है, उनमेसे मुख्य दो भेद है—(१) व्यवहार धर्म (२) निश्चय धर्म।

(१) व्यवहारधर्ममे दया मुख्य है। शेष चार महाव्रत भी दयाकी रक्षाके लिए है। दयाके आठ भेद है—१. द्रव्यदया, २. भावदया, ३. स्वदया, ४. परदया, ५. स्वरूपदया, ६. अनुबन्धदया, ७. व्यवहारदया, ८. निश्चयदया।

१. **द्रव्यदया**—जो भी काम किया जाये उसमे यत्नपूर्वक जीव-रक्षा करके प्रवृत्ति करना सो 'द्रव्यदया' है।

२. **भावदया**—दूसरे जीवको दुर्गतिमे जाते हुए देखकर अनु-कम्पा बुद्धिसे उपदेश देना 'भावदया' है।

३. **स्वदया**—यह आत्मा अनादि कालसे मिथ्यात्वसे ग्रसित है, तत्त्वको प्राप्त नही होता, जिनाज्ञाका पालन नही कर सकता, इस प्रकार चिन्तवन करके धर्ममे प्रवेश करना 'स्वदया' है।

४. **परदया**—छह कायके जीवोकी रक्षा करना 'परदया' है।

५. **स्वरूपदया**—सूक्ष्म विवेकसे स्वरूपका विचार करना 'स्वरूप-दया' है।

६. **अनुबन्धदया**—गुरु अथवा शिक्षक शिष्यको कटु वचन कह-कर जो उपदेश देते हैं वे देखनेमे तो अयोग्य मालूम होते हैं किन्तु परिणाममे करुणाके कारण है, इसका नाम 'अनुबन्धदया' है।

७. **व्यवहारदया**—उपयोग पूर्वक और विधिपूर्वक दयाका पालन करना 'व्यवहारदया' है।

८ **निश्चयदया**—शुद्ध साध्य उपयोगमे एकताभाव और अभेद उपयोगका होना 'निश्चयदया' है।

इस आठ प्रकारकी दयाको लेकर भगवान्‌ने व्यवहारधर्म कहा है। इसमे सभी जीवोका सुख, सन्तोष और अभयदान यह समस्त विचार पूर्वक देखनेपर आ जाते हैं।

(२) निश्चयधर्ममे अपने स्वरूपके भ्रमको दूर करना, आत्माको आत्मभावसे पहचानना। यह ससार मेरा नही है, मैं इससे भिन्न, परम असग सिद्धसदृश शुद्ध आत्मा हूँ, ऐसी आत्मस्वभावरूप वर्तना वह निश्चयधर्म है।

जहाँ किसी प्राणीको दु ख, अहित अथवा असन्तोष होता है वहाँ दया नही और जहाँ दया नही वहाँ धर्म नही। अरहन्त भग-वान्‌के कहे हुए धर्मतत्त्वसे सभी प्राणी अभयको प्राप्त होते है।

शिक्षापाठ १० : सद्गुरुतत्त्व—भाग १

पिता—पुत्र ! तू जिस शालामें पढने जाता है उस शालाका शिक्षक कौन है ?

पुत्र—पिताजी ! एक विद्वान् और समझदार ब्राह्मण है।

पिता—उनकी वाणी, चालचलन आदि कैसे हैं ?

पुत्र—उनकी वाणी बहुत मधुर है वे किसीको अविवेकसे नहीं वुलाते और बहुत गम्भीर हैं, जब बोलते हैं तब मानो मुखसे फूल झरते हैं। वे किसीका अपमान नही करते, और हमे भलीभाँति समझाकर शिक्षा देते हैं।

पिता—तू वहाँ किस कारणसे जाता है सो मुझे कह तो सही।

पुत्र—आप ऐसा क्यो कहते हैं, पिताजी ! ससारमे विचक्षण होनेके लिए युक्तियोको समझूँ, व्यवहार नीतिको सीखूँ, इस हेतुसे आप मुझे वहाँ भेजते हैं।

पिता—तेरे शिक्षक यदि दुराचारी अथवा ऐसे ही होते तो ?

पुत्र—तव तो वहुत वुरा होता। हमें अविवेक और कुवचन वोलना आता, व्यवहार नीति तो फिर सिखलाता ही कौन ?

पिता—देख पुत्र, इस परसे मैं अब तुझे एक उत्तम शिक्षा कहूँ। जैसे ससारमे पडनेके लिये व्यवहार नीति सीखनेका प्रयोजन है, वैसे ही परभवके लिए धर्मतत्त्व और धर्मनीतिमें प्रवेश करनेका प्रयोजन है। जैसे यह व्यवहार नीति सदाचारी शिक्षकसे उत्तम प्रकारसे मिल सकती है वैसे ही परभवमे श्रेयस्कर धर्मनीति उत्तम गुरुसे ही मिल सकती है। व्यवहारनीतिके शिक्षक और धर्मनीतिके शिक्षकमे बहुत अन्तर है। विल्लोरके टुकडेके समान व्यवहार-शिक्षक है, और अमूल्य कौस्तुभ-मणिके समान आत्मधर्म-शिक्षक है।

पुत्र—सिरछत्र ! आपका कहना योग्य है। धर्मके शिक्षककी सम्पूर्ण आवश्यकता है। आपने बारबार ससारके अनन्त दु खोके सम्ब-

न्धमे मुझे कहा है। इससे पार पानेके लिए धर्म ही सहायभूत है। तब धर्म कैसे गुरुसे प्राप्त करें तो श्रेयस्कर हो यह कृपाकर मुझे कहिए।

शिक्षापाठ ११ : सद्गुरुतत्व—भाग २

पिता—पुत्र! गुरु तीन प्रकारके कहे जाते हैं—(१) काष्ठ-स्वरूप (२) कागजस्वरूप (३) पत्थरस्वरूप।

(१) काष्ठस्वरूप गुरु सर्वोत्तम हैं, क्योंकि ससाररूपी समुद्रको काष्ठस्वरूप गुरु ही पार करते हैं, और दूसरोको पार कर सकते हैं।

(२) कागजस्वरूप गुरू मध्यम हैं वे ससार-समुद्रको स्वय पार नही कर सकते, परन्तु कुछ पुण्य उपार्जन कर सकते हैं। ये दूसरेको पार नही कर सकते।

(३) पत्थरस्वरूप गुरु स्वय डूबते हैं और दूसरोको भी डुबाते हैं।

काष्ठस्वरूप गुरु केवल जिनेश्वर भगवान्के शासनमे हैं। बाकी दो प्रकारके गुरु कर्मावरणकी वृद्धि करनेवाले हैं। हम सब उत्तम वस्तुको चाहते हैं, और उत्तमसे उत्तम वस्तुएँ मिल सकती हैं। गुरु यदि उत्तम हो तो भव समुद्रमे नाविक रूप होकर सद्धर्म-नावमे बैठा कर पार पहुँचा दे। तत्त्वज्ञानके भेद, स्वस्वरूप भेद, लोकालोक विचार, ससार-स्वरूप यह सब उत्तम गुरुके बिना नही मिल सकता। तुझे प्रश्न करनेकी इच्छा होगी कि ऐसे गुरुके कौन-कौनसे लक्षण हैं? सो मैं कहता हूँ। जो जिनेश्वर भगवान्की कही हुई आज्ञाको जानें, उसको यथार्थ रूपसे पालें और दूसरोको उपदेश करें, कचन और कामिनीके सर्वभावसे त्यागी हो, विशुद्ध आहार जल लेते हो, बाईस प्रकारके परीषह सहन करते हो, क्षात, दान्त, निरारभी और जितेन्द्रिय हो, सैद्धान्तिक ज्ञानमे निमग्न रहते हो, केवल धर्मके लिए ही शरीरका निर्वाह करते हो, निर्ग्रन्थपथकी पालनामे कायर न हो, सीक तक भी बिना दिये न लेते हो, सब प्रकारके रात्रिभोजनके

त्यागी हो, समभावी हो और वीतरागतासे सत्योपदेशक हो। संक्षेपमें उन्हे काष्ठस्वरूप सद्गुरु जानना। पुत्र! गुरुके आचार और ज्ञानके सम्बन्धमें आगममे बहुत विवेकपूर्वक वर्णन किया है। ज्यो-ज्यों तू आगे विचार करना सीखता जायेगा त्यो-त्यो बादमे मै तुझे विशेष तत्त्वोका उपदेश करता जाऊँगा।

पुत्र—पिताजी, आपने मुझे सक्षेपमे बहुत उपयोगी और कल्याणमय उपदेश कहा है। मै निरन्तर इसका मनन करता रहूँगा।

शिक्षापाठ १२ : उत्तम गृहस्थ

ससारमे भी जो उत्तम श्रावक गृहस्थाश्रममे आत्म-कल्याणका साधन करते हैं, उनका गृहस्थाश्रम भी प्रशसनीय है।

ये उत्तम पुरुष सामायिक, क्षमापना, चोविहार-प्रत्याख्यान इत्यादि यम नियमोका सेवन करते है, पर-पत्नीकी ओर माँ बहनकी दृष्टि रखते हैं।

सत्पात्रको यशाशक्ति दान देते है।

शान्त, मधुर और कोमल भाषा बोलते है।

सत् शास्त्रोंका मनन करते है।

यथासभव उपजीविकामे भी माया-कपट इत्यादि नही करते।

स्त्री, पुत्र, माता, पिता, मुनि और गुरु इन सबका यथायोग्य सम्मान करते हैं।

माँ, बापको धर्मका उपदेश देते है।

यत्नासे घरकी स्वच्छता, भोजन पकाना, शयन इत्यादि कराते है।

स्वय विचक्षणतासे आचरण करते हुए स्त्री, पुत्रको विनयी और धर्मात्मा बनाते है।

सम्पूर्ण कुटुम्बमे ऐक्यकी वृद्धि करते हैं।

आये हुए अतिथिका यथायोग्य सम्मान करते हैं।

याचकको क्षुधातुर नही रखते ।

सत्पुरुषोका समागम, और उनका उपदेश धारण करते है ।

निरन्तर मर्यादासहित और सन्तोपयुक्त रहते हैं ।

यथाशक्ति शास्त्रोका सचय जिसके घरमे है ।

जो अल्प आरभसे व्यवहार चलाते है ।

ऐसा गृहस्थावास उत्तम गतिका कारण होता है, ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं ।

शिक्षापाठ १३ : जिनेश्वरकी भक्ति—भाग १

जिज्ञासु—विचक्षण सत्य ! कोई शकरकी, कोई ब्रह्माकी, कोई विष्णुकी, कोई सूर्यकी, कोई अग्निकी, कोई भवानीकी, कोई पैगम्बरकी और कोई ईसुख्रीस्तकी भक्ति करता है, ये लोग भक्ति करके क्या आशा करते होगे ?

सत्य—प्रिय जिज्ञासु ! वे भाविक-भक्त लोग मोक्ष प्रासिकी परम आशासे इन देवोको भजते है ।

जिज्ञासु—तब फिर कहिये कि वे लोग इससे उत्तम गतिको प्राप्त कर लेंगे, ऐसा आपका मत है ?

सत्य—इनकी भक्ति करनेसे वे मोक्ष पा सकेंगे, ऐसा मैं नही कह सकता । ये लोग जिन्हे परमेश्वर कहते हैं वे स्वय मोक्षको प्राप्त नही हुए हैं, तब फिर वे उपासकको मोक्ष कहाँसे दे देंगे ? शकर इत्यादि कर्मोंका क्षय नही कर सके और वे दूषणोसे युक्त हैं, इसलिये वे पूज्य नही हैं ।

जिज्ञासु—कहिये, वे दूषण कौन-कौनसे हैं ?

सत्य—[1]अज्ञान, काम, हास्य, रति, अरति आदि मिलाकर कुल

---

१ द्वि० आ० पाठा०—'अज्ञान, निद्रा, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, अविरति, भय, शोक, जुगुप्सा, दानान्तराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, काम, हास्य, रति और अरति'—ये अठारह ।

अठारह दूषणोमे-से एक भी दूषण हो तो भी वे अपूज्य है। एक समर्थ विद्वान्ने भी कहा है कि—"मै परमेश्वर हूँ" इस प्रकार मिथ्या रीति-से मनवानेवाले पुरुष स्वय अपनेको ठगते है, क्योकि बगलमे स्त्री होनेसे वे विषयी ठहरते है, शस्त्र धारण किये होनेसे वे द्वेषी ठहरते हैं, जपमाला धारण करनेसे यह सूचित होता है कि उनका मन व्यग्र है। जो यह कहते है कि—'मेरी शरणमे आ, मै सब पापोको हर लूँगा' वे अभिमानी और नास्तिक ठहरते है। ऐसा है तब फिर वे दूसरेको कैसे पार कर सकते है ? तथा बहुतसे अवतार लेनेके रूपमे परमेश्वर कहलाते है, इससे सिद्ध होता है कि—"उन्हे[1] किसी कर्म-का प्रयोजन अभी शेष है।"

जिज्ञासु—भाई! तब फिर बतलाइये कि पूज्य कौन है, और किसकी भक्ति करनी चाहिये, जिससे आत्मा स्व-शक्तिका प्रकाश कर सके ?

सत्य—शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप[2] अनन्त सिद्धकी भक्तिसे तथा सर्वदूषणरहित कर्ममलविहीन, मुक्त, वीतरागी, सकल भयरहित, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जिनेन्द्र भगवान्की भक्तिसे आत्मशक्ति प्रकट होती है।

जिज्ञासु—इनकी भक्ति करनेसे वे हमे मुक्ति देते है क्या ऐसा मानना ठीक है ?

सत्य—जिज्ञासु भाई! वे अनन्तज्ञानी भगवान् तो वीतरागी और निर्विकार है। उन्हे स्तुति-निन्दाका हमे कोई फल देनेका प्रयो-जन नही है। अपना आत्मा, जो कर्मदलसे घिरा हुआ है, तथा अज्ञानी और मोहान्ध हो रहा है, उसे दूर करनेके लिए अनुपम पुरु-

---

१. द्वि० आ० पाठा०—"वहाँ उन्हे किन्ही कर्मोंका भोगना शेष है—यह सिद्ध होता है।"

२. द्वि० आ० पाठा०—'सिद्ध भगवान्की'।

षार्थकी आवश्यकता है। सर्वकर्मदलको क्षय करके[1] 'अनन्तजीवन, अनन्तवीर्य, अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शनसे निज स्वरूपमय हुए' ऐसे जिनेश्वरोका स्वरूप निश्चयनयसे ऋद्धि होनेसे[2] वह पुरुषार्थ प्रदान करता है, विकारसे विरक्त करता है, शान्ति और निर्जरा देता है। जैसे हाथमे तलवार लेनेसे शौर्य और भगसे नशा उत्पन्न होता है, वैसे ही गुणोका चिन्तवन करनेसे आत्मा स्वरूपानन्दकी श्रेणी पर चढता जाता है। हाथमे दर्पण लेते ही जैसे मुखाकृतिका भान होता है, वैसे ही सिद्ध या जिनेश्वर-स्वरूपके चिन्तवनरूप दर्पणसे आत्मस्वरूपका भान होता है।

शिक्षापाठ १४ : जिनेश्वरकी भक्ति—भाग २

जिज्ञासु—आर्य सत्य! सिद्धस्वरूपको प्राप्त जिनेश्वर तो सभी पूज्य हैं, तो फिर नामसे भक्ति करनेकी कुछ आवश्यकता है?

सत्य—हाँ, अवश्य है। अनन्त सिद्धस्वरूपका ध्यान करते हुए शुद्धस्वरूपका विचार होना तो कार्य है परन्तु वे जिसके द्वारा उस स्वरूपको प्राप्त हुए वह कारण कौन सा है? इसका विचार करने पर उनके उग्र-तप, महान् वैराग्य, अनन्त दया, महान् ध्यान आदि सबका स्मरण हो आयेगा और अपने अर्हंत तीर्थंकर पदमे वे जिस नामसे विहार करते थे, उस नामसे उनके पवित्र आचार और पवित्र चरित्रका अत करणमे उदय होता है। यह उदय परिणाममे महा लाभदायक है। उदाहरणके लिये महावीरका पवित्र नाम—स्मरण करनेसे वे कौन थे? कब हुए? उन्होने किस प्रकारसे सिद्धि पायी इत्यादि चरित्रोकी स्मृति होगी और इससे हमारे वैराग्य, विवेक

---

१ 'अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र, अनन्तवीर्य और स्व-स्वरूपमय हुए।'

२ उन भगवान्का स्मरण, चिन्तवन, ध्यान और भक्ति पुरुषार्थत्व प्रदायक है।

इत्यादिका उदय होगा।

जिज्ञासु—परन्तु 'लोगस्स' मे तो चौबीस जिनेश्वरके नामोका सूचन किया है, इसका क्या हेतु है ? यह मुझे समझाइए।

सत्य—इसका हेतु यही है कि इस कालमे इस क्षेत्रमे जो चौबीस जिनेश्वर हुए हैं उनके नाम और चरित्रोका स्मरण करनेसे शुद्ध तत्त्वका लाभ होता है। वीतरागीका चरित्र वैराग्यका उपदेश देता है। अनन्त चौबीसीके अनन्त नाम सिद्धस्वरूपमे समग्ररूपसे आ जाते है। वर्तमानकालके चौबीस तीर्थंकरोके नाम इस कालमे लेनेसे कालकी स्थितिका बहुत सूक्ष्म ज्ञान भी स्मृतिमे आ जाता है। जैसे इनके नाम इस कालमे लिये जाते है वैसे ही चौबीसी-चौबीसीके नाम, काल और चौबीसी बदलने पर लिये जाते रहते है। इसलिये अमुक ही नाम लेना ऐसा कुछ निश्चित नही है, परन्तु उनके गुण और पुरुषार्थ-स्मृतिके लिए वर्तमान चौबीसीकी स्मृति करना ऐसा तत्त्व निहित है। उनका जन्म, विहार, उपदेश यह सब नाम निक्षेपसे जाना जाता है। इसके द्वारा अपने आत्माको प्रकाश मिलता है। जैसे सर्प बाँसुरीके स्वरसे जागृत होता है वैसे ही आत्मा अपनी सत्य ऋद्धि सुनते ही मोह निद्रासे जागृत होता है।

जिज्ञासु—आपने जिनेश्वरकी भक्तिके सम्बन्धमे मुझे बहुत उत्तम कारण बताया। जिनेश्वरकी भक्ति कुछ फलदायक नही ऐसी आधुनिक शिक्षाके कारण मेरी जो आस्था हो गई थी, वह नाश हो गई है। जिनेश्वर भगवान्की भक्ति अवश्य करनी चाहिये, यह मै मान्य करता हूँ।

सत्य—जिनेश्वर भगवान्की भक्तिसे अनुपम लाभ है। इसके महान् कारण हैं, "उनके उपकारके कारण भी उनकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये। उनके पुरुषार्थका स्मरण होनेसे कल्याण होता है। इत्यादि मात्र सामान्य कारण मैंने यथाबुद्धि कहे है, वे अन्य भक्त-

जनोको भी सुखदायक हो ।[1]

शिक्षापाठ १५ : भक्तिका उपदेश

(तोटक छन्द)

शुभ शीतळतामय छांह रही, मनवाछित ज्या फळपंक्ति कही ।
जिनभक्ति ग्रहो तरुकल्प अहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥ १ ॥
निज आत्मस्वरूप मुदा प्रगटे, मन ताप उताप तमाम मटे ।
अति निर्जरता वणदाम ग्रहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥ २ ॥
समभावी सदा परिणाम थशे, जडमंद अधोगति जन्म जशे ।
शुभमंगळ आ परिपूर्ण चहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥ ३ ॥
शुभभाव वडे मन शुद्ध करो, नवकार महापदने समरो ।
नहि एह समान सुमंत्र कहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ॥ ४ ॥
करशो क्षय केवळ राग-कथा, धरशो शुभ तत्त्वस्वरूप यथा ।
नृपचन्द्र प्रपंच अनन्त दहो, भजीने भगवंत भवत लहो ॥ ५ ॥

जिसकी शुभ शीतलतामय छाया है, जिसमे मनोवाछित फलोकी पक्ति लगी है ऐसी कल्पवृक्षरूपी जिनभक्तिका आश्रय लो, और भगवान्‌की भक्ति करके भवके अन्तको प्राप्त करो ॥१॥

इससे आनन्दमय अपना आतमस्वरूप प्रगट होता है, और मनका समस्त सताप मिट जाता है, तथा बिना दामोके ही कर्मोकी अत्यन्त निर्जरा होती है। इसलिये भगवान्‌की भक्ति करके भवके

---

1. उनके परम उपकारके कारण भी उनकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये। उनके पुरुपार्थका स्मरण होनेसे भी शुभ वृत्तियोका उदय होता है। जैसे-जैसे श्री जिनेन्द्रके स्वरूपमें वृत्ति लय होती है वैसे-वैसे परम शान्ति प्रगट होती है। इस प्रकार जिन-भक्तिके कारणोको यहाँ सक्षेपमें कहा है, आत्मार्थियोको उनका विशेप रूपसे मनन करना चाहिये।

अन्तको प्राप्त करो ॥२॥

इससे सदा समभावी परिणामोकी प्राप्ति होगी, अत्यन्त जड और मद अधोगतिमे ले जानेवाले जन्मका नाश होगा, तथा यह शुभ मगलमय है, इसकी पूर्ण रूपसे इच्छा करो, और भगवान्की भक्ति करके भवके अन्तको प्राप्त करो ॥३॥

शुभ भावोंके द्वारा मनको शुद्ध करो, नवकार महामन्त्रका स्मरण करो, इसके समान और दूसरी कोई वस्तु नही, इसलिये भगवान्की भक्ति करके भवके अन्तको प्राप्त करो ॥ ४ ॥

इसलिए सम्पूर्णरूपसे रागकथाका क्षय करो और यथार्थरूपसे शुभ तत्त्वोको धारण करो। राजचन्द्र कहते है कि भगवद्-भक्तिसे अनन्त प्रपचको दहन करो, और भगवान्की भक्तिसे भवके अन्तको प्राप्त करो ॥ ५ ॥

शिक्षापाठ १६ : वास्तविक महत्ता

कई लोग, लक्ष्मीसे महत्ता मिलती है ऐसा मानते है, कितने ही महान् कुटुम्बसे महत्ता मानते हैं, कितने ही पुत्रसे महत्ता मानते हैं, तथा कई अधिकारसे महत्ता मानते है। परन्तु यह उनका मानना विवेकसे विचार करनेपर मिथ्या सिद्ध होता है। ये लोग जिसमे महत्ता समझते है उसमे महत्ता नही, परन्तु लघुता है। लक्ष्मीसे संसारमे खान-पान, मान, अनुचरोपर आज्ञा और वैभव ये सब मिलते हैं। और यह महत्ता है, ऐसा तुम मानते होगे, परन्तु इतनेसे इसकी महत्ता नही माननी चाहिये। लक्ष्मी अनेक पापोंसे पैदा होती है। यह आने पर अभिमान, बेहोशी, और मूढता पैदा करती है। कुटुम्ब समुदायकी महत्ता पानेके लिए उसका पालन-पोषण करना पडता है। उससे पाप और दुख सहन करने पड़ते है। हमे उपाधिसे पाप करके उसका उदर भरना पडता है। पुत्रसे कोई शाश्वत नाम नही रहता। इसके लिये भी अनेक प्रकारके पाप और उपाधि सहनी

पडती है, फिर भी उससे अपना क्या मगल होता है ? अधिकारसे परतन्त्रता या अमलमद आता है और इससे अत्याचार, अनीति, रिश्वत और अन्याय करने पडते हैं, अथवा होते हैं। फिर कहो इसमे-से किसकी महत्ता होती है ? केवल पापजन्य कर्मकी। पापी कर्मके द्वारा आत्माकी नीच गति होती है, जहाँ नीच गति है वहाँ महत्ता नही, परन्तु लघुता है।

आत्माकी महत्ता तो सत्य वचन, दया, क्षमा, परोपकार और समतामे निहित है। लक्ष्मी इत्यादि तो कर्ममहत्ता है। ऐसा होनेपर भी चतुर-पुरुष लक्ष्मीसे दान देते हैं, उत्तम विद्याशालाये स्थापित करके परदु खभजन बनते हैं। केवल एक अपनी विवाहिता स्त्रीमे ही वृत्तिको रोककर परस्त्रीकी ओर पुत्री भावसे देखते हैं। कुटुम्बके द्वारा अमुक समुदायका हित करते हैं। पुत्र होनेसे उसको ससारका भार देकर स्वय धर्म-मार्गमे प्रवेश करते हैं। अधिकारके द्वारा विचक्षणतासे आचरण कर राजा और प्रजा दोनोका हित करके धर्मनीतिका प्रकाश करते हैं। ऐसा करनेसे कुछ—एक सच्ची महत्ताएँ प्राप्त होती है, तथापि ये महत्ताएँ निश्चित नही हैं। मरणका भय शिरपर खडा है। धारणाएँ धरी रह जाती हैं। बनाई गई योजना या विवेक कदाचित् हृदयमे-से निकल भी जाय ऐसी ससारमोहिनी है, इससे हमे यह नि सशय समझना चाहिये कि सत्यवचन, दया, क्षमा, ब्रह्मचर्य और समता जैसी आत्ममहत्ता अन्य किसी भी स्थान पर नही हैं। शुद्ध पच महाव्रतधारी भिक्षुकने जो ऋद्धि और महत्ता प्राप्त की है वह ब्रह्मदत्त जैसे चक्रवर्तीने लक्ष्मी, कुटुम्ब, पुत्र अथवा अधिकारसे भी नही प्राप्त की, ऐसी मेरी मान्यता है।

शिक्षापाठ १७ : बाहुबल

बाहुबल अर्थात् "अपनी भुजाका बल"—यह अर्थ यहाँ नही करना चाहिये, क्योकि बाहुबल नामके महापुरुषका यह एक छोटा किन्तु अद्भुत चरित्र है।

सर्वसगका परित्याग करके भगवान् ऋषभदेवजी भरत और बाहुबल नामके अपने दो पुत्रोंको राज्य सौपकर विहार करते थे। उस समय भरतेश्वर चक्रवर्ती हुए। आयुधशालामे चक्रकी उत्पत्ति होनेके पश्चात् प्रत्येक राज्यपर उन्होने अपनी महत्ता स्थापित की, और छह खडकी प्रभुता प्राप्त की। मात्र बाहुबलने ही उनकी इस प्रभुताको स्वीकार नही किया। इससे परिणाममे बाहुबल और भरतेश्वरमे युद्ध हुआ। बहुत समय तक भरतेश्वर और बाहुबल एक भी नही हटा, तब क्रोधावेशमे आकर भरतेश्वरने बाहुबल पर चक्र छोडा। एक वीर्यसे उत्पन्न सहोदर भाईपर चक्र प्रभाव नही कर सकता, ऐसा नियम होनेसे वह चक्र फिरकर भरतेश्वरके हाथमे वापिस आ गया। भरतके चक्र छोडनेसे बाहुबलको बहुत क्रोध आया। उन्होने महाबलवत्तर मुष्टि उठायी। तत्काल ही वहाँ उनकी भावनाका स्वरूप बदला। उन्होने विचार किया कि "मै बहुत ही निन्दनीय कार्य कर रहा हूँ। इसका परिणाम कितना दु खदायक है! भले ही भरतेश्वर राज्य भोगे। व्यर्थ ही परस्परका नाश क्यो करना? यह मुष्टि प्रहार योग्य नही है, परन्तु उठाई है तो अब पीछे हटाना भी योग्य नही"। यह विचारकर उन्होने पचमुष्टि केशलोच किया, और वहाँसे मुनित्वभावसे चल निकले। उन्होने जहाँ भगवान् आदीश्वर अठानवें दीक्षित पुत्रो सहित और आर्य-आर्या सहित विहार करते थे, वहाँ जानेकी इच्छा की। परन्तु मनमे मान आया कि वहाँ मै जाऊँगा तो अपनेसे छोटे अठानवे भाइयोको वन्दन करना पडेगा। इसलिये वहाँ तो जाना योग्य नही। पश्चात् वनमें वे एकाग्रध्यानमे लीन रहे। धीरे-धीरे बारह मास बीत गये। महातपसे बाहुबलीकी काया अस्थिपजरावशेष रह गई। वे सूखे वृक्ष जैसे दीखने लगे, परन्तु जब तक मानका अकुर उनके अन्त करणसे हटा नही था, तबतक उन्होने सिद्धि नही पायी, ब्राह्मी और सुन्दरी नामकी बहिनोने आकर उनको उपदेश दिया—"आर्य, अब मदोन्मत्त हाथी परसे उतरो, इससे तो

बहुत सहन करना पडा ।" उनके इन वचनोंसे बाहुबली विचारमे पडे। विचारते-विचारते उन्हे भान हुआ कि "सत्य है! अभी मै मान-रूपी मदोन्मत्त हाथी परसे कहाँ उतरा हूँ ? अब इसपरसे उतरना ही मगलकारक है"। ऐसा विचार कर उन्होने ज्यो ही वन्दन करनेके लिए पैर उठाया, कि उन्हे अनुपम दिव्य कैवल्य-कमलाकी प्राप्ति हो गयी।

पाठको! देखो, मान कैसी दुरित वस्तु है!

शिक्षापाठ १८ : चार गति

जीव[1] सातावेदनीय और असाता वेदनीयका वेदन करता हुआ शुभाशुभ कर्मका फल भोगनेके लिए इस ससार वनरूप चार गतियोमे भटका करता है। अत इन चार गतियोको अवश्य जानना चाहिए।

१. नरकगति—महा आरभ, मदिरापान, मास भक्षण इत्यादि तीव्र हिंसाके करनेवाले जीव भयकर नरकमे पड़ते हैं। वहाँ लेशमात्र भी साता, विश्राम, अथवा सुख नही है। वहाँ महा अधकार व्याप्त है। अग-छेदन सहन करना पडता है, अग्निमे जलना पडता है, और छुरेकी धार जैसा जल पीना पडता है। वहाँ अनन्त दु खके कारण प्राणियोको सक्लेश, असाता और विलविलाहट सहन करने पडते हैं। ऐसे दु खोको केवलज्ञानी भी नही कह सकते। अहो हो !! इन दु खो को अनन्तबार इस आत्माने भोगा है।

२. तिर्यंचगति—छल, झूठ, प्रपच इत्यादिके कारण जीव सिंह, बाघ, हाथी, मृग, गाय, भैंस, बैल आदि तिर्यंच शरीर धारण करता है। इस तिर्यंचगतिमे भूख, प्यास, ताप, वध, बन्धन, ताडन, भार-वहन इत्यादि दु खोको सहन करता है।

३. मनुष्यगति—खाद्य, अखाद्यके सम्बन्धमे विवेक रहित होता

---

१. द्वि० आ० पाठा०—"जीव ससार वनमें सातावेदनीय और असाता-वेदनीयका वेदन करता हुआ शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगनेके लिए इन चार गतियोमें भ्रमण करता रहता है।"

है, लज्जाहीन होकर माता और पुत्रीके साथ काम-गमन करनेमें जिसे पाप और अपापका भान नही होता, जो निरन्तर मास भक्षण, चोरी, परस्त्री गमन वगैरह महापातक किया करता है, यह तो मानो अनार्य देशका अनार्य मनुष्य है। आर्य देशमें भी क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य आदि मतिहीन, दरिद्री, अज्ञान और रोगसे पीडित मनुष्य है और वे मान, अपमान इत्यादि अनेक प्रकारके दुख भोग रहे है।

४. **देवगति**—परस्पर वैर, ईर्ष्या, क्लेश, शोक, मत्सर, काम, मद, क्षुधा आदिसे देव लोग भी आयु व्यतीत कर रहे है। यह देवगति है।

इस प्रकार चारो गतियोका स्वरूप सामान्यरूपसे कहा। इन चारो गतियोमे मनुष्य गति श्रेष्ठ और दुर्लभ है। आत्माका परम-हित—मोक्ष इस गतिसे प्राप्त होता है। इस मनुष्यगतिमे भी बहुतसे दु ख और आत्मकल्याण करनेमे अन्तराय है।

एक तरुण सुकुमारको रोम-रोममे अत्यन्त तप्त लाल सूए चुभानेसे जो असह्य वेदना होती है, उससे भी आठ गुनी वेदना जीव गर्भ-स्थानमे रहते हुए भोगता है। यह जीव लगभग नौ महीने मल, मूत्र, खून, पीप आदिमे दिन रात मूर्च्छागत स्थितिमे वेदना भोग-भोगकर जन्म लेता है। गर्भस्थानकी वेदनासे अनन्त गुनी वेदना जन्मके समय उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् बाल्यावस्था प्राप्त होती है। मल, मूत्र, धूल और नग्नावस्थामे बेसमझीसे रो-भटककर बाल्यावस्था पूर्ण होती है। इसके बाद युवावस्था आती है। इस समय धन उपार्जन करनेके लिए नाना प्रकारके पापोंमें पडना पड़ता है। जहाँसे उत्पन्न हुआ है वहाँ अर्थात् विषय-विकारमे वृत्ति जाती है। उन्माद, आलस्य, अभिमान, निंद्यदृष्टि, सयोग-वियोग आदिकी घटमालमे युवावस्था चली जाती है। फिर वृद्धावस्था आती है। शरीर काँपने लगता है, मुखसे लार बहने लगती है, त्वचापर सिकुडन पड जाती है, सूँघने, सुनने और देखनेकी शक्तियाँ बिलकुल मद

पड जाती हैं, केश धवल होकर खिरने लगते है, चलनेकी शक्ति नही रहती, हाथमे लकडी लेकर लडखडाते हुए चलना पडता है, अथवा जीवन पर्यन्त खाटपर ही पडा रहना पडता है, श्वास, खाँसी इत्यादि रोग आकर घेर लेते हैं और थोडे कालमे काल आकर कवलित कर जाता है। इस देहमेसे जीव चल निकलता है। कायाका होना न होनेके समान हो जाता है। मरण समयमे भी कितनी अधिक वेदना सहनी पडती है? चारो गतियोमे श्रेष्ठ मनुष्य देहमे भी कितने अधिक दुख भरे हुए हैं। ऐसा होते हुए भी ऊपर कहे अनुसार काल अनुक्रमसे आता हो यह बात भी नही है। वह चाहे जब आकर ले जाता है। इसीलिये विचक्षण पुरुष प्रमाद रहित होकर आत्म-कल्याणकी आराधना करते हैं।

शिक्षापाठ १९ : संसारकी चार उपमाएँ—भाग १

१. ससारको महातत्त्वज्ञानी पुरुप एक समुद्रकी उपमा भी देते हैं। ससाररूपी समुद्र अनन्त और अपार है। अहो प्राणियो! इससे पार होनेके लिए पुरुषार्थका उपयोग करो! उपयोग करो!! इस प्रकार उनके अनेक स्थानोपर वचन हैं। ससारको समुद्रकी उपमा उपयुक्त भी है। समुद्रमे जैसे लहरें उठा करती है, वैसे ही ससारमे विषयरूपी अनेक लहरे उठती हैं। जैसे समुद्र-जल ऊपरसे सपाट दिखाई देता है, वैसे ही ससार भी सरल दिखाई देता है। जैसे समुद्र कही बहुत गहरा है और कही भँवरोमे डाल देता है, वैसे ही ससार काम-विषय और प्रपच आदिमे बहुत गहरा है, और वह मोहरूपी भँवरोमे डाल देता है। जैसे थोडा जल रहनेपर भी समुद्रमे खडे होनेसे कीचडमे धँस जाते हैं, वैसे ही ससार-के लेशभर प्रसगमे भी वह तृष्णारूपी कीचडमे फँसा देता है। जैसे समुद्र नानाप्रकारकी चट्टानो और तूफानोसे नाव अथवा जहाजको हानि पहुँचाता है, वैसे ही ससार स्त्रीरूपी चट्टानो और कामरूपी तूफानोसे आत्माको हानि पहुँचाता है। जैसे समुद्र अगाध जलसे

शीतल दिखाई देनेपर भी उसमें बडवानल नामकी अग्निका वास है। वैसे ही ससारमे मायारूपी अग्नि जलती ही रहती है। जैसे समुद्र चौमासेमे अधिक जल पाकर गहरा उतरता है, वैसे ही संसार पापरूपी जल पाकर गहरा होता है, अर्थात् वह मजबूत जड जमाता जाता है।

२. ससारको दूसरी उपमा अग्निकी लागू होती है। जैसे अग्निसे महातापकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही ससारसे त्रिविध ताप-की उत्पत्ति होती है। जैसे अग्निसे जला हुआ जीव महाबिलबिला-हट करता है, वैसे ही ससारसे जला हुआ जीव अनन्त दुख रूप नरकसे असह्य बिलबिलाहट करता है। जैसे अग्नि सब वस्तुओको भक्षण कर जाती है, वैसे ही अपने मुखमे पडे हुएको ससार भक्षण कर जाता है। अग्निमे ज्यो-ज्यो घी और ईंधन होमे जाते है, त्यो-त्यो वह वृद्धि पाती है[1], उसी प्रकार ससारमे तीव्र मोहिनीरूप घी और विषयरूप ईंधन होमा जानेसे वह वृद्धिको प्राप्त होता है।

३. ससारको तीसरी उपमा अधकारकी लागू होती है। जैसे अधकारमे रस्सी सर्पका भान कराती है, वैसे ही ससार सत्यको असत्यरूप बताता है। जैसे अधकारमे प्राणी इधर-उधर भटक कर विपत्ति भोगते है, वैसे ही ससारमे बेसुध होकर अनन्त आत्मा चतु-र्गतिमे इधर-उधर भटकते हैं। जैसे अधकारमे कॉच और हीरेका ज्ञान नही होता, वैसे ही ससाररूपी अधकारमे विवेक और अविवेक-का ज्ञान नही होता। जैसे अधकारमे प्राणी आँखे होने पर भी अन्धे बन जाते हैं, वैसे ही शक्तिके होने पर भी प्राणी ससारमे मोहान्ध बन जाते है। जैसे अन्धकारमे उल्लू आदिका उपद्रव बढ़

---

१. द्वि० आ० पाठा०—उसी प्रकार संसाररूपी अग्निमें तीव्र मोहनीरूपी घी और विषयरूपी ईंधनके होमनेसे वह वृद्धिको प्राप्त होती है।

जाता है, वैसे ही संसारमे लोभ, माया आदिका उपद्रव बढ जाता है। इस प्रकार अनेक प्रकारसे देखने पर ससार अधकार रूप ही प्रतीत होता है।

४ ससारको चौथी उपमा शकट-चक्र अर्थात् गाडीके पहियेकी लागू होती है। जैसे चलता हुआ शकट-चक्र घूमता रहता है वैसे ही ससारमे प्रवेश करनेसे वह (ससार चक्र) गतिमान रहता है। जैसे शकट-चक्र धुरेके विना नही चल सकता, वैसे ही ससार मिथ्यात्वरूपी धुरेके बिना नही चल सकता। जैसे शकट-चक्र आरोसे टिका हुआ है वैसे ही ससार शका, प्रमाद आदि आरोंसे टिका हुआ है। इस प्रकार अनेक रीतिसे शकट-चक्रकी उपमा भी ससार पर लागू हो सकती है। [1]ससारको जितनी अधो उपमा दी जाय, कम है। हमने ये चार उपमाएँ ज्ञात कर ली। अव इनमेसे तत्त्वका ग्रहण करना उचित है।

शिक्षापाठ २० : संसारकी चार उपमाएँ—भाग २

१ जैसे सागर मजबूत नाव और जानकार नाविकके द्वारा तैर कर पार किया जाता है वैसे ही सद्धर्मरूपी नाव और सद्‌गुरुरूपी नाविकके द्वारा ससारसागर पार किया जा सकता है। जैसे सागरमे विचक्षण पुरुषोने निर्विघ्न मार्गको ढूँढ निकाला है, वैसे ही जिनेश्वर भगवान्‌ने तत्त्वज्ञानरूप उत्तम मार्ग बताया है कि जो निर्विघ्न है।

२. जैसे अग्नि सबको भक्षण कर जाती है, परन्तु पानीसे बुझ जाती है, वैसे ही वैराग्यरूपी जलसे ससाररूपी अग्नि बुझाई जा सकती है।

३. जैसे अन्धकारमे दीपक ले जानेसे प्रकाश होनेपर हम पदार्थोंको देख सकते हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञानरूपी न बुझनेवाला दीपक ससाररूपी अन्धकारमे प्रकाश करके सत्य वस्तुको बताता है।

---

१. द्वि० आ० पाठा०—इस प्रकार ससारको।

४. जैसे शकट-चक्र बैलके बिना नही चल सकता, वैसे ही ससार चक्र राग, द्वेषके बिना नही चल सकता।

इस प्रकार इस ससाररूपी रोगका निवारण उपमाके द्वारा अनुपान सहित कहा गया है। आत्म हितैषीको इसे निरन्तर मनन करना और दूसरोको उपदेश देना (समझाना) चाहिये।

शिक्षापाठ २१ : बारह भावनाएँ

वैराग्य और ऐसे ही अन्य आत्महितैषी विषयोकी सुदृढता होनेके लिये तत्त्वज्ञानी बारह भावनाओका चिन्तवन करनेके लिए कहते है।

१. शरीर, वैभव, लक्ष्मी, कुटुम्ब, परिवार आदि सर्व विनाशी है। जीवका मूल धर्म अविनाशी है, ऐसा चिन्तवन करना सो पहली 'अनित्य भावना' है।

२. ससारमे मरणके समय जीवको शरण देनेवाला कोई नही है, केवल एक शुभ धर्मका शरण ही सत्य है ऐसा चिन्तवन करना सो दूसरी 'अशरण भावना' है।

३. इस आत्माने ससार-सागरमे पर्यटन करते-करते सर्वभव धारण किये हैं। इस ससाररूपी जजीरसे मै कब छूटूँगा? यह ससार मेरा नही, मै मोक्षमयी हूँ, ऐसा चिन्तवन करना सो तीसरी 'ससार भावना' है।

४. यह मेरा आत्मा अकेला है, यह अकेला आया है, अकेला ही जायेगा, और अपने किये हुए कर्मोका फल अकेला ही भोगेगा, ऐसा चिन्तवन करना सो चौथी 'एकत्व भावना' है।

५. इस ससारमे कोई किसीका नही, ऐसा चिन्तवन करना सो पाँचवी 'अन्यत्व भावना' है।

६. यह शरीर अपवित्र है, मलमूत्रकी खान है, रोगजराके निवासका धाम है, मै इस शरीरसे भिन्न हूँ, ऐसा चिन्तवन करना सो छट्ठी 'अशुचि भावना' है।

७. राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सभी आस्रव हैं, ऐसा चिन्तवन करना सो सातवी 'आस्रव-भावना' है।

८. जीव ज्ञान-ध्यानमे प्रवृत्त होकर नये कर्मोको नही बाँधता, ऐसा चिन्तवन करना सो आठवी 'सवर भावना' है।

९. ज्ञान सहित क्रियाका करना निर्जराका कारण है, ऐसा चिन्तवन करना सो नौवी 'निर्जरा भावना' है।

१०. लोकस्वरूपका उत्पत्ति, स्थिति, विनाशस्वरूप चिन्तवन करना सो दशवी 'लोकस्वरूप भावना' है।

११. ससारमे परिभ्रमण करते हुए जीवको सम्यग्ज्ञानकी प्रसादी प्राप्त होना दुर्लभ है, यदि सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लिया तो चारित्र—सर्व-विरति-परिणामरूप धर्मका प्राप्त होना दुर्लभ है, ऐसा चिन्तवन करना सो ग्यारहवी 'बोधदुर्लभ भावना' है।

१२. धर्मोपदेशक एव शुद्ध शास्त्र-बोधक गुरु तथा इस प्रकारका श्रवण प्राप्त होना दुर्लभ है, ऐसा चिन्तवन करना सो बारहवी 'धर्मदुर्लभ भावना' है।

इन बारह भावनाओको मननपूर्वक निरन्तर विचार करनेसे सत्पुरुष उत्तमपदको प्राप्त हुए हैं, प्राप्त होते हैं और प्राप्त होगे।

शिक्षापाठ २२ : कामदेव श्रावक

भगवान् महावीरके समयमे बारह व्रतोको विमलभावसे धारण करनेवाला, विवेकी और निर्ग्रन्थ-वचनानुरक्त कामदेव नामक एक श्रावक उनका शिष्य था। एक समय इन्द्रने सुधर्मा सभामे कामदेवकी धर्म-अचलताकी प्रशसा की। उस समय वहाँ एक तुच्छ बुद्धिमान देव बैठा हुआ था। वह बोला[1]—"यह सब ठीक है, जब तक नारी

---

१. उसने ऐसी सुदृढताके प्रति अपना अविश्वास व्यक्त किया, और कहा कि—जब तक परीषह नही आ पडते तब तक सभी सहनशील और धर्मदृढ दिखाई देते है।

न मिले तब तक सब ब्रह्मचारी होते है और जब तब परिषह न आ पडे तब तक सभी सहनशील, और धर्म दृढ। मै अपनी यह बात उस कामदेवको चलायमान करके सत्य सिद्ध कर दिखाऊँगा।"

उस समय धर्मदृढ कामदेव कायोत्सर्गमे लीन था। देवताने विक्रियासे हाथीका रूप धारण किया और फिर कामदेवको खूब खूदा, फिर भी वह अचल बना रहा। फिर उसने मूसल जैसा अग बनाकर काले वर्णका सर्प बनकर भयकर फुकार किये तब भी वह कामदेव कायोत्सर्गसे लेशमात्र चलित नही हुआ। तत्पश्चात् अट्ट-हास करते हुए राक्षसका शरीर धारण करके अनेक प्रकारके उपसर्ग किये, तथापि कामदेव कायोत्सर्गसे किंचित्‌मात्रभी चलायमान नही हुए। फिर उसने सिंहादिके अनेक भयकर रूप धारण किये, तथापि कामदेवने कायोत्सर्गमे लेशमात्र भी हीनता नही आने दी।

इस प्रकार वह देव सारी रात (चारो प्रहर) उपद्रव करता रहा, किन्तु वह अपनी धारणामे सफल नही हुआ। तब उसने अपने अवधिज्ञानके उपयोग-बलसे देखा तो कामदेव मेरुशिखरकी भाँति अडोल और अकम्प खड़ा था। यो उसने कामदेवकी अद्भुत निश्च-लता जानकर उसे विनयभावसे प्रणाम किया, और अपने दोषोकी क्षमायाचना करके वह देव स्वस्थानको चला गया।

अब यह बात तो बिना कहे भी समझमे आयी होगी कि [1]'काम-देव श्रावककी धर्मदृढता हमे क्या सीख देती है? इसमेसे हमे यह तत्त्वविचार ग्रहण करना है कि निर्ग्रंथ-प्रवचनमे प्रवेश करके दृढ रहना। जो भी कायोत्सर्ग आदि ध्यान धारण करना हो वह जैसे

---

१. द्वि० आ० पाठा०—कामदेव श्रावकको धर्मदृढता यह बोध-पाठ देती है कि—सत्यधर्म और सत्यप्रतिज्ञामें परमदृढ रहना चाहिये और जैसे बने वैसे कायोत्सर्गादिको एकाग्र चित्तसे और दृढतासे निर्दोष रखना चाहिये।

वने वैसे एकाग्रचित्त होकर दृढतासे निर्दोषता पूर्वक करना। चल-विचलभावसे कायोत्सर्ग अत्यन्त दोषयुक्त होता है। [1]एक पाईके लिए भी धर्म-शाखको खो देनेवाले धर्ममे दृढता कहाँसे रख सके ? और यदि रखे तो कैसी रखें, यह विचार करते हुए खेद होता है।

शिक्षापाठ २३ : सत्य

सामान्य कथनमे भी कहा जाता है कि सत्य इस[2] सृष्टिका आधार है, अथवा सत्यके आधारपर यह[3] सृष्टि टिकी हुई है। इस कथनसे यह शिक्षा मिलती है कि धर्म, नीति, राज और व्यवहार ये सव सत्यके द्वारा चल रहे हैं और यदि ये चारो न हो तो जगत्का रूप कितना भयकर हो ? इसलिये सत्य यह सृष्टिका आधार है, यह कहना कोई अतिशयोक्ति जैसा नही है अथवा नही मानने जैसी वात भी नही है।

वसुराजाका एक शव्दका असत्य वोलना कितना दु खदायक हुआ था, [4]यह वात तत्त्व विचार करनेके लिए मै यहाँ कहता हूँ। वसु-राजा, नारद और पर्वत—ये तीनो एक ही गुरुके पास विद्या सीखे थे। पर्वत अध्यापकका पुत्र था, अध्यापकका मरण हो गया। इसलिये पर्वत अपनी माँके साथ वसुराजाके दरवारमे आकर रहने लगा। एक रातको पर्वतकी माँ पासमे वैठी थी तथा पर्वत और नारद शास्त्रा-भ्यास कर रहे थे। उस समय पर्वतने 'अजैर्यष्टव्य' ऐसा एक वाक्य

---

१. पाई जितने नये पैसेके वरावर द्रव्यलाभके लिये धर्मशाखको डुवाने वालेकी धर्ममें दृढता कहाँसे रह सकती है ? और यदि रहे भी तो कैसी ?

२ 'जगत्का आधार।'

३ जगत रहा है।

४. द्वि० आ० पाठा०—'यह प्रसग विचार करनेके लिए यहाँ कहेंगे।'

बोला। तब नारदने कहा कि—"अजका क्या अर्थ है, पर्वत ?" पर्वतने कहा—"अज अर्थात् बकरा।" नारदने कहा—"जब हम तीनों तेरे पिताके पास पढते थे तब तेरे पिताने कहा था कि अजका अर्थ तीन वर्षकी 'व्रीहि' है। अब फिर तू विपरीत अर्थ क्यो करता है ?" इस प्रकार परस्पर वचनोका विवाद बढा। तब पर्वतने कहा—"जो हमे वसुराजा कह दे वह ठीक है।" इस बातको नारदने भी स्वीकार किया और जो जीते उसके लिए अमुक शर्त लगायी। पर्वतकी माँ जो पासमे ही बैठी थी उसने यह सब सुना। उसे भी याद था कि 'अज' का अर्थ 'व्रीहि' है। शर्तमे अपना पुत्र हार जायेगा इस भयसे पर्वतकी माँ रात्रिके समय राजाके पास गई और पूछा कि—राजन् ! 'अज' का क्या अर्थ है ? वसुराजाने सम्बधपूर्वक कहा कि अजका अर्थ 'व्रीहि' होता है। यह सुनकर पर्वतकी माँने राजासे कहा कि—"मेरे पुत्रने अजका अर्थ बकरा कह दिया है, इसलिये आपको उसका पक्ष लेना होगा। वे दोनो आपसे पूछनेके लिए आएँगे।" वसुराजाने कहा "कि मै असत्य क्यो कहूँगा ? मुझसे यह नही हो सकेगा।" तब पर्वतकी माँने कहा—"परन्तु यदि आप मेरे पुत्रका पक्ष नही लेगे तो मै आपको हत्याका पाप दूँगी।" राजा विचारमे पड गया कि सत्यके कारण ही मै मणिमय सिहासनपर अधर बैठा हूँ, लोक समुदायका न्याय करता हूँ, और लोग भी यही जानते है कि राजा सत्यगुणके कारण सिहासनपर अन्तरीक्षमे बैठता है। अब क्या करना चाहिए ? यदि पर्वतका पक्ष न लूँ तो ब्राह्मणी मरती है, वह तो मेरे गुरुकी पत्नी है। अन्तमे लाचार होकर राजाने ब्राह्मणीसे कहा—"तुम बेखटके जाओ, मै पर्वतका पक्ष लूँगा।" इस प्रकार निश्चय कराकर पर्वतकी माँ घर आयी। प्रात काल नारद, पर्वत और उसकी माँ विवाद करते हुए राजाके पास आए। राजा अनजान होकर पूछने लगा कि क्या बात है, पर्वत ? पर्वत बोला—"राजाधिराज ! अजका क्या अर्थ है सो कहिये।" राजाने नारदसे पूछा कि—तुम इसका

क्या अर्थ करते हो ? नारदने कहा कि क्या आपको यह स्मरण नही है कि अजका अर्थ तीन वर्षका 'व्रीहि' होता है ? तव वसुराजाने कहा कि 'अजका' अर्थ वकरा है 'व्रीहि' नही । उसी समय देवताने उसे सिंहासनसे उछालकर नीचे पटक दिया, वसु मृत्युको प्राप्त हुआ। (नरकमे गया) ।

इसपरसे यह शिक्षा मिलती है कि हम सबको[1] सत्य तथा राजाको सत्य और न्याय—दोनो ग्रहण करना योग्य है ।

भगवान्‌ने जो पाँच महाव्रत कहे हैं उनमेसे प्रथम महाव्रतको रक्षाके लिए शेप चार व्रत वाडरूप है, और उनमे भी पहली वाड सत्य महाव्रत है । इस सत्यके अनेक भेदोको सिद्धान्तसे श्रवण करना आवश्यक है ।

शिक्षापाठ २४ : सत्संग

सत्सग सभी सुखोका मूल है। 'सत्सग[2] मिला' कि उसके प्रभावसे वाछित सिद्धि हो ही जाती है । यथेच्छ पवित्र होनेके लिए सत्सग श्रेष्ठ साधन है, सत्सगकी एक घडी जितना लाभ देती है उतना कुसगके करोडो वर्ष भी लाभ नही देकर अधोगतिमय महा-पाप कराते हैं और आत्माको मलिन करते हैं। सत्सगका सामान्य अर्थ इतना कि, उत्तमका सहवास। जहाँ अच्छी हवा नही आती वहाँ रोगकी वृद्धि होती है, इसी प्रकार जहाँ सत्सग नही होता वहाँ आत्म-रोग वढता है। जैसे हम दुर्गन्धसे घवडाकर नाक-मे कपडा लगा लेते हैं, वैसे ही कुसगका सहवास बन्द करना आव-श्यक है । ससार भी एक प्रकारका सग है और वह अनन्त कुसगरूप

---

१. द्वि० आ० पाठा०—सामान्य मनुष्योको सत्य, तथा राजाको न्यायमें निष्पक्षता एव सत्य दोनो ग्रहण करना उचित है ।

२ 'सत्सगका लाभ मिला'

तथा दु खदायक होनेसे त्याग करने योग्य है। चाहे जैसा सहवास हो, किन्तु जिसके द्वारा आत्मसिद्धि न हो वह सत्संग नही है। जो आत्मा पर सत्यका रग चढाये वह सत्सग है। जो मोक्षका मार्ग बतावे वह मैत्री है। उत्तम शास्त्रमे निरन्तर एकाग्र रहना भी सत्सग है। सत् पुरुषोका समागम भी सत्सग है। जैसे मलिन वस्त्र-को साबुन तथा पानी स्वच्छ कर देते हैं, वैसे ही शास्त्रबोध और सत्पुरुषोका समागम आत्माकी मलिनताको दूर करके शुद्धता प्रदान करते हैं।

जिसके साथ रहकर राग-रग, गान-तान और स्वादिष्ट भोजन सेवन किये जाते हो वह तुम्हे चाहे जितना प्रिय लगता हो, तो भी निश्चय मानना कि वह सत्सग नही, प्रत्युत कुसंग है। सत्सगसे प्राप्त हुआ एक वचन भी अमूल्य लाभ देता है। तत्त्वज्ञानियोने ऐसा मुख्य उपदेश दिया है कि—सर्वसगका परित्याग करके अन्तरगमे रहे हुए सर्व विकारोसे भी विरक्त होकर एकान्तका सेवन करो। इसीमे सत्सगकी स्तुति समा जाती है। सम्पूर्ण एकान्त तो ध्यानमे रहना या योगाभ्यासमे रहना है, परन्तु जिसमेसे एक ही प्रकारकी वृत्तिका प्रवाह निकलता है ऐसा सम-स्वभावीका समागम भावकी अपेक्षा एकरूपता होनेसे बहुत मनुष्योके होने पर भी, और परस्परका सहवास होने पर भी एकान्तरूप ही है, और ऐसा एकान्त मात्र सत-समागममे निहित है।

कदाचित् कोई यह विचार करे कि—जहाँ विषयीमण्डल एकत्र होता है वहाँ समभाव होनेसे एकान्त क्यो न कहा जाये? उसका तात्कालिक समाधान यह है कि—वे एक स्वभाववाले नही होते। उनमे परस्पर स्वार्थबुद्धि और मायाका अनुसधान होता है, और जहाँ इन दो कारणोंसे समागम होता है वहाँ एक-स्वभाव अथवा निर्दोषता नही होती। निर्दोप और समस्वभावी-समागम तो परस्पर शान्त मुनीश्वरोका है, और धर्मध्यान-प्रशस्त अल्पारम्भी पुरुष-

का भी कुछ अशोमे है। जहाँ स्वार्थ और माया-कपट ही है वहाँ समस्वभावत्व नही, और वह सत्सग भी नही। सत्सगसे जो सुख-आनद मिलता है वह अति स्तुतिपात्र है। जहाँ शास्त्रोंके सुन्दर प्रश्नोत्तर हो, जहाँ उत्तम ज्ञान-ध्यानकी सुकथा हो, जहाँ सत्पुरुषोंके चरित्र पर विचार बाँधे जायें, जहाँ तत्वज्ञानके तरगकी लहरें प्रवाहित होती हो, जहाँ सरल स्वभावसे सिद्धान्त-विचारकी चर्चा होती हो, जहाँ मोक्षजन्य कथन पर खूब विवेचन होता हो, ऐसा सत्सग मिलना महादुर्लभ है।

यदि कोई कहे कि—क्या सत्सग-मडलमे कोई मायावी नही होता ? तो इसका समाधान यह है जहाँ माया और स्वार्थ होता है वहाँ सत्सग ही नही होता। राजहसकी सभामे विद्यमान कौवा ऊपरसे देखनेमे कदाचित् न पहचाना जाय तो स्वरसे वह अवश्य पहिचान लिया जायगा। यदि वह मौन रहे तो मुखकी मुद्रासे भी पहिचाना जायगा, परतु वह कभी छिपा नही रह सकेगा। इसी प्रकार मायावी लोग स्वार्थ हेतु सत्सगमें जाकर क्या करेंगे ? वहाँ पेट भरनेकी वात तो होती नही। यदि वे घडी-दो घडी वहाँ जाकर विश्रान्ति लेते हो तो भले ही ले, कि जिससे कुछ रग लगे, रग नही लगेगा तो दूसरी वार उसका आगमन नही होगा। जैसे धरती पर तैरा नही जा सकता, उसी प्रकार सत्सगसे डूबा नही जा सकता, सत्सगका ऐसा चमत्कार है। निरतर ऐसे निर्दोष समागममे माया लेकर आवे भी कौन ? कोई ही अभागा, और वह भी असभव है। सत्सग आत्माकी परम 'हितैषी' औषधि है।

शिक्षापाठ २५ : परिग्रहको मर्यादित करना

जिस प्राणीको परिग्रहकी मर्यादा नही, वह सुखी नही। उसे जितना भी मिल जाय वह थोडा ही है। क्योकि जितना उसे मिलता जाता है उतनेसे अधिक प्राप्त करनेकी उसकी इच्छा होती जाती

है। परिग्रहकी प्रबलतामे जो कुछ मिला हो, उसका सुख तो भोगा नही जाता, परन्तु जो होता है वह भी कदाचित् चला जाता है। परिग्रहसे निरन्तर चलविचल परिणाम और पाप भावना रहती है, आकस्मिक योगसे ऐसी पाप भावनामे यदि आयु पूर्ण हो जाय तो बहुधा अधोगतिका कारण हो जाती है। सम्पूर्ण परिग्रह तो मुनीश्वर ही त्याग सकते है, परन्तु गृहस्थ इसकी अमुक मर्यादा कर सकते हैं। मर्यादा होने पर उससे अधिक परिग्रहकी उत्पत्ति नही है। तथा इसके कारण विशेष भावना भी प्रायः नही होती, और जो मिला है, उसमे सतोष रखनेकी आदत पड जाती है, और फिर इससे सुखपूर्वक काल व्यतीत होता है। न जाने लक्ष्मी आदिमें कैसी विचित्रता है कि जैसे-जैसे उसका लाभ होता जाता है, वैसे-वैसे लोभकी वृद्धि होती जाती है। धर्म सम्बन्धी कितना ही ज्ञान और दृढता होते हुए भी परिग्रहके पाशमे पडा हुआ कोई विरला पुरुष ही छूट सकता है, वृत्ति इसीमे लटकी रहती है, परन्तु यह वृत्ति किसी कालमे सुखदायक अथवा आत्महितैषी नही हुई। जिसने इसकी मर्यादा नही घटाई वह बहुत दु खका भोगी हुआ है।

छह खण्डोको जीतकर आज्ञा चलानेवाला राजाधिराज, चक्रवर्ती कहलाता है। इन समर्थ चक्रवर्तियोमे सुभूम नामक एक चक्रवर्ती हो गया है। उसने छह खण्डोको जीता इसलिये वह चक्रवर्ती माना गया, परन्तु इतनेसे उसकी मनोवाछा तृप्त न हुई, और अभी भी वह तृषावन्त रहा। इसलिये उसने धातकी खण्डके छह खण्डोंको जीतनेका निश्चय किया। सभी चक्रवर्ती छह खण्डोंको जीतते हैं, और मै भी इतने ही जीतूँ, इसमे क्या महत्ता है? बारह खण्डोंके जीतनेसे मै चिरकाल तक प्रसिद्ध रहूँगा; और इन खण्डोपर जीवन पर्यन्त समर्थ आज्ञा चला सकूँगा, इस विचारसे उसने समुद्रमे चर्मरत्न छोडा। उसके ऊपर सब सैन्य आदिका आधार था। चर्मरत्नके एक हजार देवता सेवक कहे जाते है। उनमे प्रथम एकने विचार

किया कि न जाने इसमेसे कितने वर्षमे छुटकारा मिलेगा, इसलिये अपनी देवागनासे तो मिल आऊँ। ऐसा विचारकर वह चला गया। इसी प्रकार दूसरा देवता गया, फिर तीसरा गया। ऐसा करते-करते हजारके हजार देवता चले गये। तब चर्मरत्न डूब गया, अश्व, गज और सर्वसैन्यसहित सुभूम चक्रवर्ती भी डूब गया। और वह पाप ही पापभावनामे मरकर अनन्त दु खसे भरी हुई सातवी तमतमप्रभा-नरक पृथ्वीमे जाकर पडा। देखो ! छह खण्डका आधिपत्य तो भोगना एक ओर रहा, परन्तु अकस्मात् और भयकर रीतिसे, परिग्रहकी प्रीतिमे इस चक्रवर्तीकी मृत्यु हुई, तब फिर दूसरेके लिए तो कहना ही क्या ? परिग्रह यह पापका मूल है, पापका पिता है, और अन्य एकादश व्रतोमे महादोष दे ऐसा इसका स्वभाव है। इसलिये आत्म-हितैषीको जैसे बने वैसे इसका त्याग कर मर्यादापूर्वक आचरण करना योग्य है।

शिक्षापाठ २६ : तत्त्वका समझना

ऐसे पुरुष बहुत मिल सकते हैं जिन्हे शास्त्रोके शास्त्र कण्ठस्थ हो, किन्तु जिन्होने थोडे वचनोपर प्रौढ और विवेकपूर्वक विचार करके शास्त्र जितना ज्ञान हृदयगम किया हो ऐसे पुरुषोका मिलना दुर्लभ है। तत्त्व तक पहुँच जाना कोई छोटी बात नही है, किन्तु कूदकर समुद्र उलाघ जानेके समान है।

अर्थ अर्थात् लक्ष्मी, अर्थ अर्थात् तत्त्व और अर्थ अर्थात् शब्द होता है। इस प्रकार अर्थ शब्दके अनेक अर्थ होते हैं। किन्तु यहाँ पर 'अर्थ' अर्थात् 'तत्त्व' के विषयपर कथन करना है। जो लोग निर्ग्रन्थ-प्रवचनमे आये हुए पवित्र वचनोको कण्ठस्थ करते है वे अपने उत्साहके बलसे सत्फलका उपार्जन करते है, परन्तु जो उसका मर्म पा लिया हो तो इससे सुख, आनद, विवेक और अन्तमे महान् अद्-भुत फलको प्राप्त करते हैं। अपढ पुरुष जितना सुन्दर अक्षर और

खैची हुई मिथ्या लकीरें इन दोनोंके भेदको जानता है, उतना ही मुखपाठी अन्य ग्रन्थोंके विचार और निर्ग्रंथ-प्रवचनको भेदरूप मानता है, क्योकि उसने अर्थपूर्वक निर्ग्रंथ-वचनामृतको धारण नही किया, और उसपर यथार्थ तत्त्व-विचार नही किया। यद्यपि तत्त्व-विचार करनेमे समर्थ बुद्धि-प्रभावकी आवश्यकता है, तो भी कुछ विचार अवश्य कर सकता है। पत्थर पिघलता नही, फिर भी पानीसे भीग जाता है, इसी तरह जिसने वचनामृत कठस्थ किया हो, वह अर्थ-सहित हो तो बहुत उपयोगी हो सकता है, नही तो तोतेवाला राम नाम। तोतेको कोई परिचयमे आकर राम नाम कहना भले ही सिखला दे, परन्तु तोतेकी बला जाने, कि राम अनारको कहते है या अगूरको। सामान्य अर्थके समझे विना ऐसा होता है। कच्छी वैश्योका एक दृष्टान्त कहा जाता है, वह कुछ हास्ययुक्त अवश्य है, परन्तु इससे उत्तम शिक्षा मिल सकती है, इसलिये इसे यहाँ कहता हूँ। कच्छके किसी गाँवमे श्रावक-धर्मको पालते हुए रायशी, दैवशी और खेतशी नामके तीन ओसवाल रहते थे। वे नियमित रीतिसे सध्याकाल और प्रभातमे प्रतिक्रमण करते थे। प्रभातमें रायशी और सध्याकालमे देवशी प्रतिक्रमण कराते थे। रात्रिका प्रतिक्रमण रायशी कराता था और रात्रिके सम्बन्धसे 'रायशी पडिक्कमणु ठायमि' इस तरह उसे वुलवाना पडता था। इसी तरह देवशीको दिनका सम्बन्ध होनेसे 'देवसी पडिक्कमणु ठायमि' यह बुलवाना पडता था। योगानुयोगसे एक दिन बहुत लोगोंके आग्रहसे सध्याकालमे खेतशीको प्रतिक्रमण वुलवाने वैठाया। खेतशीने जहाँ 'देवशी पडिक्कमणु ठायमि' आया, वहाँ 'खेतशी पडिक्कमणु ठायमि' यह वाक्य लगा दिया। यह सुनकर सब हँसने लगे और उन्होने पूँछा, ऐसा क्यो ? खेतशी वोला, क्यो इसमे क्या हुआ! सबने कहा कि तुम 'खेतशी पडिक्कमणु

ठायमि, ऐसे क्यो बोलते हो ? खेतशीने कहा कि मैं गरीब हूँ इसलिये मेरा नाम आया तो वहाँ आप लोग तुरन्त ही तकरार कर बैठे। परन्तु रायशी और देवशीके लिये तो किसी दिन कोई बोलता भी नही। ये दोनो क्यो 'रायशी पडिक्कमणु ठायमि' और 'देवशी पडिक्कमणु ठायमि' ऐसा कहते है ? तो फिर मै 'खेतशी पडिक्कमणु ठायमि' ऐसे क्यो न कहूँ ? इसकी भद्रताने तो सबको विनोद उत्पन्न किया। बादमे प्रतिक्रमणका कारण सहित अर्थ समझानेसे खेतशी अपने मुखसे पाठ किये हुए प्रतिक्रमणसे शरमाया।

यह तो एक सामान्य बात है, परन्तु अर्थकी खूबी न्यारी है। तत्त्वज्ञ-लोग उसपर बहुत विचार कर सकते है। बाकी तो जैसे गुड मीठा ही लगता हैं, वैसे ही निर्ग्रन्थ वचनामृत भी श्रेष्ठ फलको ही देते हैं। अहो ! परन्तु मर्म पानेकी बातकी तो बलिहारी ही है।

शिक्षापाठ २७ : यत्ना

जैसे विवेक धर्मका मूलतत्त्व है, वैसे ही यत्ना धर्मका उपतत्त्व है। विवेकसे धर्मतत्त्वका ग्रहण किया जाता है, तथा यत्नासे वह शुद्ध रक्खा जा सकता है, और उसके अनुसार आचरण किया जा सकता हे। पाच समितिरूप यत्ना तो बहुत श्रेष्ठ है, परन्तु गृहस्थाश्रमीसे वह सर्वथारूपसे नही पल सकती, तो भी जितने अशोमे वह पाली जा सकती है, उतने अशोमे भी वे असावधानीके कारण, जिनेश्वर भगवान् द्वारा उपदेशित स्थूल और सूक्ष्मदयाके प्रति जहाँ असावधानी है, वहाँपर बहुत दोषपूर्ण पाली जा सकती है। यह यत्नाकी न्यूनताके कारण है। जल्दी और वेगभरी चाल, पानी छानकर उसकी जीवानी रखनेकी अपूर्ण विधि, काष्ठ आदि ईंधनका विना झाडे-देखे उपयोग, अनाजमे रहनेवाले जन्तुओकी अपूर्णशोध, बिना मजे-अस्वच्छ छोड दिए गए पात्र, अस्वच्छ रखे हुए कमरे, आँगनमे

पानीका फेकना, जूठनका रख छोडना, पटडेके बिना धधकती थालीका नीचे रखना, इनसे हमे इस लोकमे अस्वच्छता, असुविधा, अस्वस्थता इत्यादि फल मिलते है और यह महापापके कारण भी हो जाते है। इसलिये कहनेका तात्पर्य यह है कि चलनेमे, बैठनेमे, उठनेमे, भोजन करनेमे और दूसरी हरएक क्रियामे यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए। इससे द्रव्य और भाव दोनो प्रकारके लाभ है। चालको धीमी और गम्भीर रखना, घरका स्वच्छ रखना, पानीका विधि सहित छानना, काष्ठ आदि इंधनका झाडकर उपयोग करना, ये कुछ अपने लिए असुविधा देनेवाले काम नही और इनमे विशेष समय भी नही जाता। ऐसे नियमोको प्रविष्ठ करनेके पश्चात् पालना भी मुश्किल नही है। इससे बिचारे असख्यात निरपराधी जन्तुओकी रक्षा हो जाती है।

प्रत्येक कामको यत्नापूर्वक ही करना विवेकी श्रावकका कर्तव्य है।

शिक्षापाठ २८ : रात्रि भोजन

अहिंसादिक पॉच महाव्रतोकी भॉति भगवान्ने रात्रिभोजन-त्याग व्रत भी कहा है। रात्रिमे चार प्रकारका आहार अभक्ष्यरूप है। आहारका जिस प्रकारका रग होता है उसी प्रकारके तमस्काय नामक जीव उस आहारमे उत्पन्न होते है। इसके अतिरिक्त रात्रिभोजनमे और भी अनेक दोष है। रात्रि भोजन करनेवाले को रसोईके लिए अग्नि जलानी होती है, तब पासकी दीवारपर रहे हुए निरपराधी अनेक सूक्ष्म जीव-जन्तु नष्ट हो जाते है। इंधनके लिए लाये गए काष्ठादिमे रहनेवाले जन्तु भी रात्रिमे नही दिखलाई देनेसे नाशको प्राप्त होते है, इसके अतिरिक्त रात्रिभोजनमे सर्प-विषका, मकडीकी लारका और मच्छर आदिक सूक्ष्म जन्तुओका भी भय रहता है। किसी समय यह कुटुम्ब आदिके लिए भयकर रोगका कारण भी हो जाता है।

पुराण आदि मतोमे भी सामान्य आचारके लिए रात्रिभोजनका त्याग बताया गया है, फिर भी उनमे परम्पराकी रूढिको लेकर रात्रि भोजन प्रविष्ट हो गया है, किन्तु यह निषिद्ध तो है ही।

शरीरके भीतर दो प्रकारके कमल विद्यमान है, वे सूर्यास्तके साथ ही सकुचित हो जाते हैं इसलिए रात्रि भोजनमे सूक्ष्म जीवोका भक्षण होनेरूप अहित होता है, जो कि महारोगका कारण है, ऐसा अनेक स्थलोपर आयुर्वेदका भी मत है।

सत्पुरुष तो दो घडी दिन रहनेपर ब्यारू कर लेते हैं और दो घडी दिन चढनेसे पहले किसी भी प्रकारका आहार नही करते। रात्रिभोजनके सम्बन्धमे विशेष विचार मुनि-समागमसे अथवा शास्त्रोसे जान लेना चाहिए। इस सम्बन्धमे बहुत सूक्ष्म भेदोका जानना आवश्यक है। चारो प्रकारके आहार रात्रिमे त्याग करनेसे महान् फल होता है, ऐसा जिन-वचन है।

शिक्षापाठ २९ : सर्वजीवोकी रक्षा—भाग-१

दयाके समान दूसरा एक भी धर्म नही है। दया ही धर्मका स्वरूप है। जहाँ दया नही वहाँ धर्म नही। इस पृथिवी तलपर ऐसे अनेक अनर्थकारक धर्म-मत विद्यमान हैं कि जो जीवके मारनेमे किंचित् मात्र भी पाप नही होता, बहुत तो मनुष्यदेहकी रक्षा करो, ऐसा कहते है, इस प्रकार ऐसे धर्म-मत वाले लोग धर्मोन्मादी और मदान्ध हैं, और वे दयाका लेशमात्र भी स्वरूप नही जानते। यदि वे लोग अपने हृदय पटको प्रकाशमे रखकर विचार करे तो उन्हे ज्ञान होगा कि किसी सूक्ष्मसे सूक्ष्म जन्तुका वध करनेमे भी महापाप होता है। जैसा मुझे अपना आत्मा प्रिय है वैसा ही दूसरोको भी अपना आत्मा प्रिय है। मै अपने थोडेसे व्यसन अथवा लाभके लिए असख्यात जीवोका बेधडक वध करता हूँ, यह मुझे कितने भयकर अनत दु खका कारण होगा ? उनमे बुद्धिका बीज भी विद्यमान नही होनेसे

ऐसा विचार नही कर सकते, वे लोग रात दिन पाप ही पापमें मगन रहते है। वेद और वैष्णवादि पन्थोमे भी सूक्ष्म दया सम्बन्धी कोई विचार देखनेमें नही आता। फिर भी ये लोग दयाको बिल्कुल नहीं समझने वालेकी अपेक्षा बहुत उत्तम है। स्थूल जीवोकी रक्षा करनेमें ये लोग ठीक समझे है परन्तु इन सबकी अपेक्षा हम कितने भाग्यशाली है कि जहाँ एक पुष्पकी पखडीको भी पीडा हो, वहाँ पाप है, इस वास्तविक तत्त्वको समझे, और यज्ञ-यागदिककी हिंसासे तो सर्वथा विरक्त रहे है। जहाँ तक बनता है सम्पूर्ण प्रयत्नसे जीवको बचाते है और जान-बूझकर किसी जीवको मारनेकी अपनी किंचित्मात्र भी इच्छा नही होती। अनन्त काय-अभक्ष्यसे प्राय: हम लोग विरक्त ही हैं। इस कालमे यह समस्त पुण्यप्रताप सिद्धार्थ भूपालके पुत्र महावीरके द्वारा कहे हुए परमतत्त्वबोधके योग-बलसे बढा है।

मनुष्य ऋद्धिको प्राप्त करते है, सुन्दर स्त्रीको प्राप्त करते है, आज्ञाकारी पुत्र प्राप्त करते है, बहुत बडा कुटुम्ब परिवार प्राप्त करते है, मान-प्रतिष्ठा और अधिकार पाते है, और यह सब कुछ प्राप्त करना कोई दुर्लभ नही है। किन्तु वास्तविक धर्मतत्त्व, उसकी श्रद्धा अथवा उसका थोडा अश भी प्राप्त करना महादुर्लभ है। ये ऋद्धि इत्यादि अविवेकसे पापका कारण होकर अनन्त दु खमें ले जाती है, परन्तु यह थोडी श्रद्धा-भावना भी उत्तम पदवीमे पहुँचाती है। यह दयाका सत् परिणाम है। हमने धर्म-तत्त्व युक्त कुलमे जन्म पाया है, इसलिए अब जैसे भी बने वैसे विमल दयामय-आचारमे आना चाहिए। सब जीवोकी रक्षा करनी, यह बात हमे सदैव लक्ष्यमे रखनी चाहिए। दूसरोको भी ऐसी ही युक्ति-प्रयुक्तियोंसे उपदेश देना चाहिए। सब जीवोकी रक्षा करनेके लिए एक शिक्षाप्रद उत्तम युक्ति बुद्धिशाली अभयकुमारने की थी, उसे मै आगेके पाठमे कहता हूँ,

इसी प्रकार तत्त्वबोधके लिए युक्ति-युक्त न्यायसे अनार्योंके समान धर्ममतवादियोको हमे शिक्षा देनेका अवसर मिले, तो हम कितने भाग्यशाली हो!

शिक्षापाठ ३० : सर्वजीवोकी रक्षा—भाग-२

एक समय मगध देशकी राजगृही नगरीका अधिराजा श्रेणिक सभा भरकर बैठा हुआ था। प्रसगोपात्त बातचीतके अवसरमे मास-लुब्ध सामन्त बोले, कि आजकल मास अधिक सस्ता है। यह बात अभयकुमारने सुनी इसलिये उसने हिंसक सामन्तोको उपदेश देनेका निश्चय किया। सायकालमे सभा विसर्जित हुई और राजा अपने अन्त पुरमे चला गया। तत्पश्चात् अभयकुमार कर्तव्यपालनके हेतु उन सबके घरपर गया जिन्होने मास सम्बन्धी बात कही थी। अभयकुमार जिन-जिनके घर गया उन्होने उसका स्वागत सत्कार करनेके बाद पूछा कि आपने हमारे घर पधारनेका किसलिए कष्ट उठाया है! अभयकुमारने कहा महाराजा श्रेणिकको अचानक एक महारोग उत्पन्न हो गया है। वैद्योको इकट्ठे करनेपर उन्होने कहा है कि—यदि किसी कोमल मनुष्यके कलेजेका सवा पैसे भर मास मिल जाये तो यह रोग मिटे। तुम लोग राजाके प्रिय-मान्य हो इसलिये मैं तुम्हारे यहाँ यह मास लेनेके लिए आया हूँ।

तब प्रत्येक सामन्तने विचार किया कि मरे बिना कलेजेका मास कैसे दिया जा सकेगा? और अभयकुमारसे कहा कि—महाराज! यह भला कैसे हो सकता है? ऐसा कहकर पश्चात् उन्होने अपनी बात राजाके सम्मुख प्रकट[1] न करनेके लिए अभयकुमारको बहुत-सा द्रव्य दिया, जिसे अभयकुमार लेता गया। इस प्रकार अभयकुमार सभी सामन्तोके घर हो आया। कोई भी सामन्त मास नही दे सका और उन्होने अपनी बातको छिपानेके लिए द्रव्य दिया।

१ द्वि० आ० पाठा०—'इसलिए प्रत्येक सामन्त देता गया और वह'

पश्चात्, दूसरे दिन जब सभा भरी उस समय सभी सामन्त अपने-अपने आसनपर आकर बैठे। राजा भी सिहासनपर विराजमान थे। सभी सामन्त आ-आकर राजासे कलकी कुशल पूछने लगे। राजा इस बातसे विस्मित हुआ। उसने अभयकुमारकी ओर देखा। अभयकुमार बोला महाराज ! कल आपके सामन्तोने सभामे कहा था कि आजकल मास सस्ता मिलता है, इसलिये मै उनके घर मास लेनेके लिए गया था, तब सभीने मुझे बहुत द्रव्य तो दिया किन्तु कलेजे-का सवा पैसे भर मास किसीने भी नही दिया। तब मै पूछता हूँ कि वह मास सस्ता है या महँगा ? यह सुनकर सभी सामन्त लज्जित होकर नीचेकी ओर देखने लगे, कोई कुछ नही बोल सका। इसके बाद अभयकुमारने कहा यह मैंने कुछ तुम लोगोको कष्ट देनेके लिए नही किया, परन्तु उपदेश देनेके लिए किया है। जब हमे अपने शरीर-का मास देना पडे तो अनन्त भय उत्पन्न होता है, क्योकि हमे अपना शरीर प्रिय है। इसी प्रकार जिस जीवका वह मास होगा उसे भी अपना जीवन प्रिय होगा। जैसे हम अमूल्य द्रव्य देकर भी अपने शरीरको बचाते है उसी प्रकार उन बेचारे पामर प्राणियोको भी होना चाहिये। हम समझदार, बोलने-चालनेवाले प्राणी है, और वे बेचारे अवाचक और बे-समझ प्राणी है। उन्हे मौतका दु ख देना कितने प्रबल पापका कारण है ? हमे यह वचन निरन्तर ध्यानमे रखना चाहिये कि—सभी प्राणियोको अपना-अपना जीव प्यारा है। और सर्व जीवोकी रक्षाके समान एक भी धर्म नही है।

अभयकुमारके इस भाषणसे श्रेणिक महाराजको सन्तोष हुआ, सभी सामन्तोने भी शिक्षा ग्रहण की। उन्होने उसी दिनसे मास नही खानेकी प्रतिज्ञा की, क्योकि एक तो वह अभक्ष्य है और दूसरे वह किसी जीवको मारे बिना मिलता नही है, यह बडा अधर्म है। अत अभय-प्रधानका कथन सुनकर उन्होने अभयदानमे लक्ष्य दिया, जो कि आत्माके परमसुखका कारण है।

शिक्षापाठ ३१ : प्रत्याख्यान

"पच्चखाण"—नामक शब्द बारबार तुम्हारे सुननेमे आया है। इसका मूल शब्द 'प्रत्याख्यान' है' और वह इस अर्थमे प्रयुक्त होता है कि अमुक वस्तुकी ओर चित्तको न जाने देनेका नियम करना। प्रत्याख्यान करनेका हेतु अति उत्तम और सूक्ष्म है। प्रत्याख्यान न करनेकी दशामे चाहे किसी वस्तुको न खाओ अथवा उसका उपभोग न करो तो भी उससे सवर नही होता, क्योकि तत्त्वरूपसे इच्छाका निरोध नही किया है। हम रात्रिको भोजन नही करते हों, किन्तु उसका प्रत्याख्यानरूपसे यदि नियम न किया हो तो वह फल नही देता, क्योकि अपनी इच्छा मुक्त रहती है। जैसे घरका द्वार खुला हो तो कुत्ता आदि जानवर अथवा मनुष्य भीतर चले आते है, उसी प्रकार यदि इच्छाके द्वार खुले हो तो उसमे कर्म प्रवेश करते रहते है, अर्थात् उस ओर अपने विचार यथेच्छरूपसे जाते है, वह कर्मबन्धनका कारण है, और यदि प्रत्याख्यान हो तो फिर उस ओर दृष्टिपात करनेकी इच्छा नही होती। जैसे हम जानते है कि अपनेसे पीठका मध्यभाग नही देखा जा सकता अत हम उस ओर दृष्टिपात तक नही करते, उसी प्रकार प्रत्याख्यान कर लेनेसे अमुक वस्तु खायी अथवा भोगी नही जा सकती अर्थात् उस ओर अपना लक्ष्य स्वाभाविकरूपसे नही जाता। वह कर्मोके आनेमे बीचमे दीवाल हो पडता है। प्रत्याख्यान करनेके बाद विस्मृति आदिके कारण कोई दोष लग जाये तो महात्माओने उसके प्रायश्चित्त—निवारण भी बतलाये है।

प्रत्याख्यानमे एक दूसरा भी बडा लाभ है, वह यह कि अमुक वस्तुओमे ही अपना लक्ष्य रहता है, शेष सभी वस्तुओका त्याग हो जाता है। जिन-जिन वस्तुओंका त्याग कर दिया जाता है उनके सम्बन्धमे फिर विशेष विचार, ग्रहण-त्याग अथवा ऐसी ही अन्य कोई

उपाधि नही रहती और इससे मन बहुत विस्तृत न होकर नियम-रूपी सडक पर चला जाता है। अश्व यदि लगाममे आ जाता है तो फिर चाहे वह कितना ही प्रबल क्यो न हो उसे इच्छित मार्गसे ले जाया जा सकता है। वैसे ही मनके नियमरूपी लगाममें आनेसे उसे चाहे जिस शुभ मार्गसे ले जाया जा सकता है, और उसमे बारबार पर्यटन करनेसे वह एकाग्र, विचारशील और विवेकी हो जाता है। मनका आनन्द शरीरको भी नीरोग करता है, एव अभक्ष्य, अनन्तकाय, परस्त्री आदिका नियम करनेसे भी शरीर नीरोग रह सकता है। मादक पदार्थ मनको कुमार्ग पर ले जाते हैं, परन्तु प्रत्याख्यानसे मन वहाँ जाता हुआ रुक जाता है, इससे वह निर्मल बनता है।

प्रत्याख्यान, यह कैसी उत्तम नियम पालनेकी प्रतिज्ञा है, यह बात इस परसे तुम समझे होगे। इस सम्बन्धी विशेष सद्गुरुके मुखसे और शास्त्रावलोकनसे समझनेका मै बोध करता हूँ।

शिक्षा पाठ ३२ : विनयसे तत्त्वकी सिद्धि है

जिस समय राजगृही नगरीके राज्यासन पर श्रेणिक राजा विराजमान था उस समय नगरीमे एक चाण्डाल रहता था। एक समय उस चाण्डालकी स्त्री गर्भवती हुई तब उसे आम खानेकी इच्छा उत्पन्न हुई। उसने चाण्डालसे आम ला देनेको कहा। चाण्डालने कहा कि यह आमका मौसम नही है इसलिए मै निरूपाय हूँ, अन्यथा मै चाहे जितनी ऊँचाईसे अपनी विद्याके बलसे ले आता और तेरी इच्छा पूरी करता। चाण्डालनीने कहा कि—राजाकी महारानीके बागमे एक असमयमे आम देनेवाला आम्रवृक्ष हैं, उस पर आजकल आम लद रहे होंगे, इसलिए वहाँ जाकर आम ले आओ। अपनी स्त्रीकी इच्छापूर्तिके लिए चाण्डाल उस बागमें गया।

और वही गुप्तरीतिसे आम्रवृक्षके पास जाकर मत्र पढकर उसे झुकाया और आम तोड लिए। फिर दूसरे मन्त्रके द्वारा उसे ज्यो-का-त्यो कर दिया और वह अपने घर आ गया। पश्चात् अपनी स्त्रीकी इच्छापूर्तिके लिए वह चाण्डाल निरन्तर विद्याके बलसे वहाँसे आम लाने लगा। एक दिन फिरते-फिरते मालीकी दृष्टि आम्रवृक्षकी ओर गयी। आमोकी चोरी हुई जानकर उसने श्रेणिक राजाके समक्ष नम्रतापूर्वक सब हाल कहा। श्रेणिककी आज्ञासे अभय कुमार नामक बुद्धिशाली प्रधानने अपनी युक्तिके द्वारा उस चाण्डालको ढूँढ निकाला। चाण्डालको अपने सम्मुख बुलाकर पूछा कि—बागमे इतने लोग रहते है फिर भी तू कैसे ऊपर चढकर आम तोडकर ले गया कि यह बात किसीके जाननेमे भी न आई? सो कह। चाण्डालने कहा—आप मेरा अपराध क्षमा करें। मै सच कह देता हूँ कि मेरे पास एक विद्या है, उसके प्रभावसे मै उन आमोको तोड सका। अभयकुमारने कहा कि मुझसे क्षमा नही दी जा सकती, किंतु यदि तू महाराज श्रेणिकको यह विद्या देना स्वीकार करे तो उन्हे ऐसी विद्या-प्राप्तिकी अभिलाषा होनेसे तेरे उपकारके बदलेमे अपराध की क्षमा करा सकता हूँ। चाण्डालने इस बातको स्वीकार कर लिया। पश्चात् अभयकुमारने चाण्डालको, जहाँ श्रेणिकराजा सिंहासन पर बैठे थे वहाँ लाकर श्रेणिकके सामने खडा कर दिया, और राजा को सब बात कह सुनायी। इस बातको राजाने स्वीकार किया। बादमे चाण्डाल सामने खडे होकर काँपते पैरो श्रेणिकको उस विद्याका बोध देने लगा, परन्तु वह बोध नही लगा। तब अभय-कुमार उठने खडे होकर बोले राजन्! यदि आप इस विद्याको अवश्य ही सीखना चाहते है तो आप सामने आकर खडे होइए और इसे अपना सिंहासन दीजिए। राजाने विद्या-प्राप्तिके लिये वैसा किया तो उसे तत्काल वह विद्या सिद्ध हो गयी।

यह बात केवल शिक्षा ग्रहण करनेके लिए है। एक चाण्डालकी

भी विनय किये बिना श्रेणिक जैसे राजाको विद्याकी सिद्धि नही हुई, इसलिए इसमेसे यही सार ग्रहण करना है कि सद्विद्याको सिद्ध करनेके लिए विनय करना आवश्यक है। आत्म विद्याकी प्राप्तिके लिए यदि हम निर्ग्रन्थ गुरुका विनय करे तो कैसा मगल-दायक हो।

विनय यह उत्तम वशीकरण है। भगवान्ने 'उत्तराध्ययन' में विनयको धर्मका मूल कहकर वर्णित किया है। गुरुका, मुनिका, विद्वान्का, माता-पिताका और अपनेसे वडोका विनय करना अपनी उत्तमताका कारण है।

शिक्षापाठ ३३ : सेठ सुदर्शन

प्राचीनकालमे शुद्ध एक-पत्नीव्रत को पालनेवाले असख्य पुरुष हो गये हैं; उनमेसे सकट सहन करके विख्यात होनेवाले सुदर्शन नामक एक सत्पुरुष भी हो गये है। यह धनाढ्य, सुन्दर मुखाकृति-वाले, कान्तिमान और युवावयके थे। वह जिस नगरमे रहते थे, उस नगरके राजदरबारके आगेसे किसी कार्यवश उन्हे निकलना पडा। जिस समय वह वहाँसे निकले तब राजा की अभया नामकी रानी अपने महलके झरोखेमे वैठी हुई थी। वहाँसे उसकी दृष्टि सुदर्शनकी ओर गयी। उसका उत्तमरूप और शरीर-सौष्ठव देखकर उसका मन ललचा गया और अभयाने एक दासीको भेजकर कपट-भावसे निर्मल कारण वतलाकर सुदर्शनको ऊपर बुलवाया। अनेक प्रकारकी वातचीत करनेके वाद अभयाने सुदर्शनको भोग भोगनेके संबधमे आमत्रण दिया। सुदर्शनने कितना ही उपदेश दिया फिर भी अभयाका मन शात नही हुआ। अन्तमें परेशान होकर सुदर्शनने युक्तिपूर्वक कहा कि—"वहिन! मै पुरुषत्वमे नही हूँ।" तो भी रानीने अनेक प्रकारके हाव-भाव वतलाये। किंतु इन सब काम-

चेष्टाओसे सुदर्शन चलित नही हुआ। इससे हारकर रानीने सुदर्शन-को जाने दिया।

एक समय उस नगरमे कोई उत्सव था, इसलिये नगरके बाहर अनेक नगर-जन आनन्दपूर्वक इधर-उधर घूम रहे थे और धूमधाम मची हुई थी। सुदर्शन सेठके देवकुमार जैसे छहपुत्र भी वहाँ आये हुए थे। अभया रानी कपिला नामक दासीके साथ बडे ही ठाटबाटसे वहाँ आयी थी। सुदर्शनके देवोके पुतले जैसे छह पुत्र उसके देखनेमे आये। उसने कपिलासे पूछा कि ऐसे रम्य पुत्र किसके हैं ? कपिलाने सुदर्शन सेठका नाम बतलाया। यह नाम सुनते ही रानीकी छातीमे कटार-सी लग गयी, उसे गहरा घाव लगा। जब सारी धूमधाम समाप्त हो गयी तब अभया रानी और उसकी दासीने मिलकर माया-कथन बनाकर राजासे कहा कि—"आप मानते होगे कि मेरे राज्यमे न्याय और नीति चलती है, दुर्जनोंसे मेरी प्रजा दु खी नही है, किन्तु यह सब मिथ्या है। अभी यहाँ तक अँधेर है कि अन्त पुरमे भी दुर्जन लोग प्रवेश पा जाते हैं ! तब फिर दूसरे स्थानोके सबधमे तो पूछना ही क्या ? आपके नगरके सुदर्शन नामक सेठने मुझे भोगका आमत्रण किया और नही कहने-योग्य कथन मुझे सुनने पडे, किंतु मैंने उसका तिरस्कार किया। भला इससे बडा अधेर और क्या हो सकता है।"

प्राय राजा स्वभावसे ही कानके कच्चे होते हैं, यह बात सर्व-मान्य-जैसी है, उसमे भी स्त्रीके माया भरे मधुर वचन क्या असर नही करते ? गर्म तेलमे शीतल जलके समान वचनोसे राजा क्रोधाय-मान हुआ। उसने सुदर्शनको शूलीपर चढा देनेकी तत्काल आज्ञा दे दी, और तदनुसार सम्पूर्ण व्यवस्था भी हो गयी। मात्र सुदर्शनके शूली पर चढनेकी ही देर थी।

चाहे जो हो किन्तु सृष्टिके दिव्य भडारमे उजाला है। सत्यका

प्रभाव ढका नही रहता। सुदर्शनको शूलीपर बिठाते ही उस शूली-की जगह चमकता हुआ सोनेका सिंहासन बन गया, और देव-दुन्दुभिका नाद हुआ; सर्वत्र आनंद व्याप्त हो गया। सुदर्शनका सत्य-शील विश्वमंडलमें चमक उठा। सत्य-शीलकी सदा जय होती है। शील और सुदर्शनकी उत्तम दृढता ये दोनों आत्माको पवित्र श्रेणी पर चढाते है।

शिक्षापाठ ३४ : ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी सुभाषित

(दोहा)

निरखीने नवयौवना; लेश न विषयनिदान।
गणे काष्ठनी पूतळी, ते भगवान समान ॥ १ ॥
आ सघळा संसारनी, रमणी नायकरूप।
ए त्यागी, त्याग्युं बधुं, केवळ शोकस्वरूप ॥ २ ॥
एक विषयने जीततां, जीत्यो सौ संसार।
नृपति जीततां जीतिये, दळ, पुर ने अधिकार ॥ ३ ॥
विषयरूप अंकुरथी, टळे ज्ञान ने ध्यान।
लेश मदिरापानथी, छाके ज्यम अज्ञान ॥ ४ ॥
जे नव वाड विशुद्धथी, धरे शियळ सुखदाई।
भव तेनो लव पछी रहे, तत्त्व वचन ए भाई ॥ ५ ॥
सुंदर शियळ सुरतरु, मन वाणी ने देह।
जे नरनारी सेवशे, अनुपम फळ ले तेह ॥ ६ ॥
पात्र विना वस्तु न रहे, पात्रे आत्मिक ज्ञान।
पात्र थवा सेवो सदा, ब्रह्मचर्य मतिमान ॥ ७ ॥

जो नवयौवनाको देखकर किंचित्मात्र भी विषय विकारको प्राप्त नही होते और जो उसे काठकी पुतलीके समान मानते हैं वे भगवान्‌के समान हैं ॥ १ ॥

इस समस्त ससारकी नायकरूप एक रमणी ही है। जिन्होने उसका त्याग किया है उन्होने केवल शोकस्वरूप सब कुछ त्याग दिया है ॥ २ ॥

जैसे एक राजाके जीत लेनेसे उसका सैन्य, नगर और अधिकार जीत लिया जाता है उसी प्रकार एक विषयको जीत लेनेसे समस्त ससार जीत लिया जाता है ॥ ३ ॥

जैसे थोडा-सा मदिरापान करनेसे जीव अज्ञानमे उन्मत्त हो जाता है उसी प्रकार विषयरूपी अकुरसे ज्ञान और ध्यान नष्ट हो जाते है ॥ ४ ॥

जो विशुद्ध नौ वाढपूर्वक सुखदायी शीलको धारण करता है उसका ससारभ्रमण अत्यल्प रह जाता है, हे भाई ! यह तत्त्व-वचन है ॥ ५ ॥

सुन्दरशीलरूपी कल्पवृक्षको जो नरनारी मन, वचन और काया-से सेवन करेगे वे अनुपम फलको प्राप्त करेगे ॥ ६ ॥

पात्रके विना कोई वस्तु नही रहती, पात्रतासे ही आत्मज्ञान होता है इसलिए हे वुद्धिमान लोगो ! पात्र वननेके लिए सदा ब्रह्मचर्यका सेवन करो ॥ ७ ॥

शिक्षापाठ ३५ : नवकारमंत्र

नमो अरिहंताण, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं ।
नमो उवज्झायाण, नमो लोए सव्वसाहूणं ॥

इन पवित्र वाक्योको निर्ग्रंथप्रवचनमे नवकार, नमस्कारमत्र अथवा पचपरमेष्ठीमन्त्र कहते हैं। अर्हत भगवान्‌के वारहगुण, सिद्ध भगवान्‌के आठ गुण, आचार्यके छत्तीसगुण, उपाध्यायके पच्चीस गुण और साधुके सत्ताईस गुण मिलकर एक सौ आठ गुण हुए। अँगूठेके विना वाकीकी चार अँगुलियोंके वारह पोरवे होते हैं और इनसे इन गुणोंके चितवन करनेकी व्यवस्था होनेसे वारहको नौसे गुणा करने

पर १०८ होते हैं। इसलिए नवकार कहनेसे यह आशय मालूम होता है कि हे भव्य ! अपनी अगुलियोके पोरवोसे नवकार मत्र नौ बार गिन। 'कार' शब्दका अर्थ करनेवाला भी होता है। बारहको नौसे गुणा करने पर जितने हो, उतने गुणोसे भरा हुआ मत्र, इसप्रकार नवकारमत्रके रूपमे उसका अर्थ हो सकता है; और पचपरमेष्ठीका अर्थ इस सकल जगतमे पाँच वस्तुएँ परमोत्कृष्ट है, वे कौन-कौनसी है ? तो उत्तर देते है कि अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनको नमस्कार करनेका जो मत्र वह परमेष्ठीमत्र है और पाँच परमेष्ठियोको एक साथमें नमस्कार होनेसे, 'पचपरमेष्ठी-मत्र' यह शब्द बना। यह मत्र अनादिसिद्ध माना जाता है। कारण कि पचपरमेष्ठी अनादिसिद्ध है। इसलिए ये पाँचो पात्र आद्यरूप नही है। ये प्रवाहसे अनादि हैं। और उसके जपनेवाले भी अनादिसिद्ध है। इसलिए यह जाप भी अनादिसिद्ध ठहरता है।

प्रश्न—इस पचपरमेष्ठीमत्रके परिपूर्ण जाननेसे मनुष्य उत्तम गतिको पाते है, ऐसा सत्पुरुष करते है। इस विषयमे आपका क्या मत है ?

उत्तर—यह कहना न्यायपूर्वक है, ऐसा मै मानता हूँ।

प्रश्न—इसे किस कारणसे न्यायपूर्वक कहा जा सकता है ?

उत्तर—हाँ। यह मै तुम्हे समझाता हूँ। मनके निग्रहके लिए एक तो सर्वोत्तम जगतभूषणके सत्य गुण का यह चिंतवन है। तत्त्वसे देखने पर अर्हंतस्वरूप, सिद्धस्वरूप, आचार्यस्वरूप, उपाध्यायस्वरूप और साधुस्वरूप इनका विवेक पूर्वक विचार करनेका भी यह सूचक है। क्योकि वे किस कारणसे पूजने योग्य हैं ? ऐसा विचार करनेपर इनके स्वरूप, गुण इत्यादिका विचार करनेकी सत्पुरुषको तो सच्ची आवश्यकता है। अब कहो कि इस प्रकार यह मत्र कितना कल्याण कारक है ?

प्रश्नकर्त्ता—सत्पुरुष नवकार मत्रको मोक्षका कारण कहते है, इस बातको मै भी इस व्याख्यानसे मान्य रखता हूँ।

अरहत भगवान, सिद्ध भगवान, आचार्य, उपाध्याय और साधु इनका एक-एक प्रथम अक्षर लेनेसे "असिआउसा" यह महान् वाक्य वनता है। जिसका ॐ ऐसा योगविंदुका स्वरूप होता है। इसलिए हमे इस मत्रका अवश्य ही विमलभावसे जाप करना चाहिये।

शिक्षापाठ ३६ : अनानुपूर्वी

१	२	३	४	५
२	१	३	४	५
१	३	२	४	५
३	१	२	४	५
२	३	१	४	५
३	२	१	४	५

पिता—इस प्रकारके कोष्टकसे भरी हुई एक छोटी पुस्तक है, क्या तूने उसे देखा है ?

पुत्र—हाँ, पिताजी।

पिता—इसमे उल्टे-सीधे अक रखे है, क्या इसका कुछभी कारण तेरी समझमे आया है ?

पुत्र—नही पिताजी मेरी समझमे नही आया। इसलिए आप वह कारण वतलाइए।

पिता—पुत्र ! यह प्रत्यक्ष है कि मन एक बहुत चचल वस्तु है; और इसे एकाग्र करना अत्यत विकट है। जब तक वह एकाग्र नही होता तब तक आत्ममलिनता दूर नही होती और पापके विचार कम नही होते। इस एकाग्रताके लिए भगवानने बारह प्रतिज्ञा आदि अनेक महान् साधन कहे हैं। मनकी एकाग्रतासे महायोगकी श्रेणी पर चढनेके लिए और उसे अनेक प्रकारसे निर्मल करनेके लिए सत्पुरुषोने यह एक कोष्टकावली बनायी है। इसमे पहले पच-परमेष्ठी मत्रके पाँच अक रखे है, और फिर लोम-विलोमस्वरूपसे इन पाँच अकोको लक्ष्यबद्ध रखकर भिन्न-भिन्न प्रकारसे कोष्टक बनाये हैं। ऐसा करनेका कारण भी यही है कि जिससे मनकी एकाग्रता प्राप्त करके निर्जरा की जा सके।

पुत्र—पिताजी ! अनुक्रमसे लेनेसे ऐसा क्यो नही हो सकता ?

पिता—यदि लोम-विलोम हो तो उन्हे जोडते जाना पड़े और नाम याद करते रहना पडे। पाँचका अक रखनेके बाद दोका अक आये तो 'नमो लोए सव्वसाहूण' के बादमे 'नमो अरिहताण' यह वाक्य छोडकर 'नमो सिद्धाण' वाक्य याद करना पडे। इस प्रकार पुन पुन लक्ष्यकी दृढता रखनेसे मन एकाग्रताको प्राप्त होता है। यदि ये अक अनुक्रमबद्ध हो तो ऐसा नही हो सकता, क्योकि उसमे विचार नही करना पडता। इस सूक्ष्म समयमे मन परमेष्ठीमत्रमेसे निकलकर ससार-तत्रकी खटपटमे जा पडता है और कभी धर्मकी जगह अनर्थ भी कर बैठता है, इसीलिए सत्पुरुषोने इस अनानुपूर्वीकी योजनाकी है, वह बहुत सुन्दर है और आत्मशान्तिको देनेवाली है।

शिक्षापाठ ३७ : सामायिक विचार—भाग १

आत्मशक्तिका प्रकाशक, सम्यग्ज्ञान-दर्शनका उदय करनेवाला, शुद्ध समाधिभावमे प्रवेश करानेवाला, निर्जराका अमूल्य लाभ देने-वाला, राग-द्वेषसे मध्यस्थ बुद्धि करनेवाला ऐसा सामायिक नामका

शिक्षाव्रत है। सामायिक शब्द की व्युत्पत्ति सम + आय + इक इन शब्दोंसे होती है, 'सम' का अर्थ राग-द्वेष रहित मध्यस्थ परिणाम, 'आय' का अर्थ उस सम भावनासे उत्पन्न होने वाला ज्ञानदर्शन-चारित्ररूप मोक्ष-मार्गका लाभ और 'इक' का अर्थ भाव होता है। अर्थात् जिसके द्वारा मोक्षके मार्गका लाभदायक भाव उत्पन्न हो वह सामायिक है। आर्त्त और रौद्र इन दो प्रकारके ध्यानका त्याग करके, मन, वचन और कायाके पाप-भावोको रोककर विवेकी श्रावक सामायिक करते हैं।

मनके पुद्गल दोरगी (तरगी) हैं। सामायिकमे जब विशुद्ध परिणामसे रहना कहा है तब भी यह मन आकाश पातालके घाट गढता रहता है। इसी प्रकार भूल, विस्मृति, उन्माद इत्यादिसे वचन और कायामे भी दूषण आनेसे सामायिकमे दोष लगता है। मन, वचन और कायाके मिलकर बत्तीस दोष उत्पन्न होते हैं। मनके दस, वचनके दस और कायाके बारह इस प्रकार बत्तीस दोपोको जानना आवश्यक है। इसके जाननेसे मन सावधान रहता है।

अब मनके दस दोष कहता हूँ—

१ **अविवेकदोष**—सामायिकका स्वरूप नही जाननेसे मनमे ऐसा विचार करे कि इससे क्या फल होना था ? इससे तो भला कौन तिरा होगा ? ऐसे विकल्पो का नाम 'अविवेक दोष' है।

२ **यशोवांछादोष**—स्वय सामायिक करता है, ऐसा दूसरे लोग जान लें तो वे प्रशसा करें, ऐसी इच्छासे सामायिक करना इत्यादि सो 'यशोवाछादोष' है।

३ **धनवाछादोष**—धनकी इच्छासे सामायिक करना सो 'धन-वाछादोप' है।

४ **गर्वदोष**—मुझे लोग धर्मात्मा कहते हैं और मै कैसी सामायिक भी वैसे ही करता है ? यह 'गर्वदोष' है।

५. **भयदोष**—मै श्रावक कुलमें जन्मा हूँ, मुझे लोग बड़ा समझकर सम्मान देते हैं, यदि मै सामायिक नही करूँ तो लोग कहेगे कि यह इतना भी नही करता, इससे मेरी निन्दा होगी यह 'भय दोप' है।

६. **निदानदोष**—सामायिक करके उसके फलस्वरूप धन, स्त्री, पुत्रादिकी प्राप्तिकी इच्छा सो 'निदानदोष' है।

७ **संशयदोष**—सामायिकका परिणाम होगा या नही ? ऐसा विकल्प करना सो 'सशयदोष' है।

८. **कषायदोष**—क्रोधादिकसे सामायिक करने वैठ जाय अथवा किसी कारणसे फिर क्रोध, मान, माया या लोभमें वृत्ति करे सो 'कषायदोष है।

९. **अविनयदोष**—विनय रहित सामायिक करे सों 'अविनय-दोष' है।

१० **अवहुमानदोष**—भक्तिभाव और उमगपूर्वक सामायिक न करे सो 'अवहुमानदोष' है।

शिक्षापाठ ३८ : सामायिकविचार—भाग २

मनके दस दोष कहे, अब वचनके दस दोष कहता हूँ।

१ **कुबोलदोष**—सामायिकमे कुवचन बोलना सो 'कुबोल-दोष' है।

२. **सहसात्कारदोष**—सामायिकमे साहससे अविचारपूर्वक वाक्य बोलना सो 'सहसात्कारदोष' है।

३ **असदारोपणदोष**—दूसरोको खोटा उपदेश देना सो 'असदा-रोपणदोप' है।

४ **निरपेक्षदोष**—सामायिकमे शास्त्रकी अपेक्षा बिना वाक्य बोलना सो 'निरपेक्षदोष' है।

५ **संक्षेपदोष**—सूत्रके पाठ इत्यादिक सक्षेपमे बोल जावे और यथार्थ उच्चारण करे नही सो 'सक्षेपदोष' है।

६ **क्लेशदोष**—किसीसे झगडा करे सो 'क्लेशदोष' है।

७ **विकथादोष**—चार प्रकारकी विकथा कर बैठना सो 'विकथा-दोष' है।

८ **हास्यदोष**—सामायिकमे किसीकी हँसी, मज़ाक करे सो 'हास्यदोष' हे।

९ **अशुद्धदोष**—सामायिकमे सूत्रपाठ न्यूनाधिक और अशुद्ध बोले सो 'अशुद्धदोष' है।

१०. **मुणमुणदोष**—गडबड घोटालेसे सामायिकमे इस प्रकार सूत्रपाठ बोले कि जिसे स्वय भी कठिनतासे पूरा समझ सके वह 'मुणमुणदोप' है।

इस प्रकार वचनके दस दोष कहे, अब कायाके बारह दोष कहता हूँ—

१ **अयोग्यआसनदोष**—सामायिकमे पैर पर पैर चढाकर बैठे यह गुर्वादिकका अविनयरूप आसन, सो पहला अयोग्यआसन दोष है।

२ **चलासनदोष**—डगमगाते हुये आसन पर बैठकर सामायिक करे, अथवा जहाँसे बार-बार उठना पडे ऐसे आसन पर बैठे सो 'चलासनदोष है'।

३ **चलदृष्टिदोष**—कार्योत्सर्गमे आँखोको चंचल रखे सो 'चल-दृष्टिदोष' है।

४ **सावद्यक्रियादोष**—सामायिकमे कोई पाप क्रिया अथवा उसकी सज्ञा करे सो 'सावद्यक्रियादोष' है।

५ **आलंबनदोष**—भीत आदिका सहारा लेकर बैठना, जिससे

वहाँ बैठे हुए जीव-जंतुओ आदिका नाश हो और अपनेको प्रमाद उत्पन्न हो सो 'आलबनदोप' है।

६. **आकुंचन-प्रसारणदोष**—हाथ-पैरका सिकोड़ना, लम्बा करना आदि 'आकुचनप्रसारणदोप' है।

७ **आलसदोष**—अगका मरोडना, उँगलियोंको चटकाना आदि सो 'आलसदोष' है।

८ **मोटनदोष**—अगुली वगैरहका टेढ़ी करना, उँगलियोंका चटकाना सो 'मोटनदोष' है।

९. **मलदोष**—घसड-घसड कर सामायिकमे खुजाकर मैल झाड़े सो 'मलदोष' है।

१० **विमासणदोष**—गलेमे हाथ डालकर बैठे इत्यादि सो सो 'विमासणदोष' है।

११ **निद्रादोष**—सामायिकमे नीद आना सो 'निद्रादोष' है।

१२ **वस्त्रसंकोचन दोष**—सामायिकमे ठण्ड प्रमुखके भयसे वस्त्रसे शरीरका सिकोडना सो 'वस्त्रसकोचन दोष' है।

इन बत्तीस दोषोसे रहित सामायिक करनी; और पाॅच अतिचार टालने।

शिक्षापाठ ३९ : सामायिकविचार—भाग ३

एकाग्रता और सावधानीके बिना इन बत्तीसदोषोंमेसे कोई न कोई दोष लग जाता है। विज्ञानवेत्ताओने सामायिकका जघन्य प्रमाण दो घडीका बाँधा है। यह व्रत सावधानीपूर्वक करनेसे परमशांति देता है। कितने ही लोगोका जब यह दो घडीका समय नही बीतता तब वे बहुत ऊब जाते है। सामायिकमे निठल्ले होकर बैठनेसे समय व्यतीत भी कैसे हो? आधुनिक समयमें साव-धानीपूर्वक सामायिक करनेवाले बहुत ही कम लोग हैं। जब सामा-

यिकके साथ प्रतिक्रमण करना होता है तब तो समय बीतना सुगम हो जाता है। यद्यपि ऐसे पामर लोग लक्षपूर्वक प्रतिक्रमण नही कर सकते। फिर भी मात्र निठल्ले बैठनेकी अपेक्षा इसमे अवश्य कुछ अतर पडता है। जिन्हे पूरी सामायिक भी नही आती वे बेचारे फिर सामायिकमे बहुत दुविधा पाते हैं। बहुतसे बहुकर्मी लोग इस अवसरपर व्यवहारके अनेक प्रपच भी गढ रखते हैं। इससे सामायिक बहुत दूषित होती है।

विधिपूर्वक सामायिक न बने यह बहुत खेदकारक और कर्मकी बहुलता है। साठ घडीके दिन-रात व्यर्थ चले जाते हैं। असख्यात दिनोसे भरपूर अनते कालचक्र व्यतीत करने पर भी जो सार्थक नही हुआ वह दो घडीकी विशुद्ध सामायिक सार्थक कर देती है। लक्षपूर्वक सामायिक होवे इसलिए सामायिकमे प्रवेश करनेके बाद चार लोगस्ससे अधिक लोगस्सका कायोत्सर्ग करके चित्तकी कुछ स्वस्थता प्राप्त करनी चाहिए। तत्पश्चात् सूत्रपाठ अथवा उत्तम ग्रथका मनन करना चाहिए। वैराग्यके उत्तम काव्योका पाठ करना चाहिए। पूर्वके अध्ययन किये हुएका स्मरण कर जाना चाहिए और यदि नूतन अभ्यास हो सके तो करना चाहिए। किसीको शास्त्राधारसे उपदेश देना चाहिए, इस प्रकार सामायिकका समय व्यतीत करना चाहिए। यदि मुनिराजका समागम हो तो उनसे आगमवाणी सुनना और मनन करना चाहिए। यदि वैसा न हो और शास्त्रपरिचय भी न हो तो विचक्षण अभ्यासीके पाससे वैराग्यबोधक कथन श्रवण करना चाहिए, अथवा कुछ अभ्यास करना चाहिए। यदि यह सब अनुकूलताएँ न हो तो कुछ समय लक्षपूर्वक कायोत्सर्गमे लगाना चाहिए, और कुछ समय महापुरुषोकी चरित्र-कथामे उपयोगपूर्वक लगाना चाहिए। किंतु जैसे बने वैसे विवेक और उत्साहसे सामायिककाल व्यतीत करना चाहिए।

यदि कुछ भी साहित्य न हो तो पचपरमेष्ठी-मंत्रका जाप ही उत्साह-पूर्वक करना चाहिए। परन्तु कालको वृथा नही गँवाना चाहिए। धैर्यसे, शातिसे और यत्नाचारसे सामायिक करना चाहिए। जैसे बने वैसे सामायिकमें शास्त्र-परिचय बढाना चाहिए।

साठ घडीके समयमेसे दो घडी अवश्य बचाकर सद्भावपूर्वक सामायिक तो करना चाहिए।

शिक्षापाठ ४० : प्रतिक्रमणविचार

प्रतिक्रमणका अर्थ है सम्मुख जाना—स्मरण कर जाना—पुनः देख जाना—इस प्रकार इसका अर्थ हो सकता है। जिस[1] दिन और जिस समय प्रतिक्रमण करनेके लिए बैठे उस समयके पूर्व उस दिन, जो जो दोष हुए हो उन्हे एकके बाद एक देख लेना चाहिए और उसका पश्चात्ताप करना अथवा दोषका स्मरण कर जाना इत्यादि सामान्य अर्थ भी होता है।

उत्तम मुनि और भाविक श्रावक दिनमें हुए दोषोंका संध्याकालमे और रात्रिमे हुए दोषोका रात्रिके पिछले भागमे अनुक्रमसे पश्चाताप करते हैं अथवा उनकी क्षमा माँगते है, इसीका नाम यहाँ प्रतिक्रमण है। यह प्रतिक्रमण हमे भी अवश्य करना चाहिए; क्योकि आत्मा मन वचन और कायके योगसे अनेक प्रकारके कर्म बाँधता है। प्रतिक्रमणसूत्रमे इसका दोहन किया गया है; जिससे दिन-रातमे हुए पापोका पश्चात्ताप उसके द्वारा हो सकता है। शुद्ध भावके द्वारा पश्चात्ताप करनेसे लेश पाप होने पर परलोकभय

१. **द्वि० आ० पाठा०**—भावकी अपेक्षासे जिस दिन जिस समय प्रतिक्रमण करना हो उस समयसे पूर्व अथवा उस दिन जो जो दोष हुये हो उन्हे एकके बाद एक अंतरात्मभावसे देख लेना और उसका पश्चात्ताप करके दोषोसे पीछे हटना सो प्रतिक्रमण है।

और अनुकपा उमड आते हैं, आत्मा कोमल होता है और त्यागने योग्य वस्तुका विवेक आता जाता है। भगवानकी साक्षीसे अज्ञान इत्यादि जिन-जिन दोषोका विस्मरण हुआ हो उनका पश्चात्ताप भी हो सकता है। इस प्रकार यह निर्जरा करनेका उत्तम साधन है।

इसका "आवश्यक" नाम भी है। आवश्यकका अर्थ है अवश्य करने योग्य, यह सत्य है। उसके द्वारा आत्माकी मलिनता दूर होती है इसलिये यह अवश्य करने योग्य ही है।

जो प्रतिक्रमण सायकालमे किया जाता है उसका नाम "देवसीय पडिक्कमण" अर्थात् दिवस सवधी पापोका पश्चात्ताप, और रात्रिके पिछले भागमे जो प्रतिक्रमण किया जाता है, उसे 'राइयपडिक्कमण' कहते हैं। 'देवसीय' और 'राइय' ये प्राकृत भाषाके शब्द हैं। पक्षमे किये जाने वाले प्रतिक्रमणको पाक्षिक और सवत्सरपर किये जानेवालेको सावत्सरिक प्रतिक्रमण कहते हैं। सत्पुरुषोकी योजना द्वारा वाँधा हुआ यह सुन्दर नियम है।

वहुतसे सामान्य बुद्धिमान लोग ऐसा कहते हैं कि दिन और रात्रि-का इकट्ठा प्रायश्चित्तरूप प्रतिक्रमण सवेरे किया जाय तो कोई वुराई नही, परन्तु ऐसा कहना प्रामाणिक नही है, क्योकि यदि रात्रिमे अकस्मात् कोई कारण आ जाय अथवा मृत्यु हो जाय, तो दिवस-सम्वधी प्रतिक्रमण भी रह जाय।

प्रतिक्रमण-सूत्रकी योजना वहुत सुदर है। इसके मूलतत्त्व वहुत उत्तम हैं। जैसे-वने-वैसे प्रतिक्रमण धीरजसे, समझमे आ सकने वाली भाषासे, शातिसे, मनकी एकाग्रतासे और यत्नापूर्वक करना चाहिए।

शिक्षापाठ ४१ : भिखारीका खेद—भाग–१

एक पामर भिखारी जगलमे भटकता फिरता था। वहाँ उसे

भूख लगी, वह बेचारा लड़खड़ाता हुआ एक नगरमे एक सामान्य मनुष्य के घर पहुँचा। वहाँ जाकर उसने अनेक प्रकारसे गिड़गिड़ाहट की। उसकी अत्यन्त दीनता-भरी प्रार्थना पर करुणा करके उस गृहस्थ की स्त्रीने घरमे जीमनेसे बचा हुआ मिष्टान्न लाकर दिया। भोजनके मिलनेसे भिखारी बहुत आनदित होता हुआ नगरके बाहर आया; और एक वृक्षके नीचे बैठ गया। वहाँ जरा साफ करके उसने एक ओर बहुत पुराना अपना पानीका घडा रख दिया, एक ओर अपनी फटी पुरानी मैली गूदड़ी रक्खी और एक ओर वह स्वय उस भोजन को लेकर बैठा। खुशी-खुशी होते हुए उसने वह भोजन खाकर पूरा किया। तत्पश्चात् सिरहाने एक पत्थर रखकर वह सो गया। भोजनके मदसे थोडी ही देरमे उसकी आँखे मिच गईं। वह निद्राके वश हुआ कि इतनेमे उसे एक स्वप्न आया। वह स्वय मानो महाऋद्धिको पाया है, सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये है, समस्त देशमे उसकी विजयका डका बज गया है; समीपमे उसकी आज्ञा उठानेके लिये अनुचर लोग खड़े हुए है, आसपासमे छड़ीदार क्षेम-क्षेम पुकार रहे है, एक रमणीय महलमे सुन्दर पलंग पर वह लेटा हुआ है, देवागना जैसी स्त्रियाँ उसके पैर दबा रही है, एक ओरसे पखेकी मद-मद पवन ढुल रही है, ऐसे स्वप्नमे उसका आत्मा तन्मय हो गया। उस स्वप्नके भोग लेते हुए उसके रोम उल्लसित हो गए। इतनेमे मेघ महाराजा चढ आये, विजली चमकने लगी; सूर्यदेव बादलोंसे ढक गया, सर्वत्र अधकार फैल गया, ऐसा मालूम हुआ कि मूसलाधार वर्षा होगी और इतनेमे बिजलीकी गर्जनासे एक जोरका कड़ाका हुआ। कड़ाकेकी आवाजसे भयभीत होकर वह बेचारा पामर भिखारी जाग उठा।

शिक्षापाठ ४२ : भिखारीका खेद—भाग-२

तब फिर वह देखता क्या है कि जिस स्थान पर पानीका फूटा

हुआ घडा पडा हुआ था उसी स्थान पर वह घडा पडा हुआ है, जहाँ फटी पुरानी गुदडी पडी थी वही वह पडी हुई है। उसने स्वय जैसे मैले-कुचैले और जाली-झरोखेवाले कपडे पहन रखे थे वैसेके वैसे ही वे कपडे उसके शरीर पर विराजते हैं। न तो तिल-भर कुछ बढा और न ही जौ-भर घटा। न तो वह देश है न वह नगरी; न वह महल न वह पलग, न वे चँवर-छत्र ढोरनेवाले न वे छडीदार, न वे स्त्रियाँ न वे वस्त्रालकार, न वे पखे न वह पवन, न वे अनुचर न वह आज्ञा; न वह सुख विलास और न वह मदोन्मत्तता, बेचारा वह तो जैसा था वैसाका वैसा ही दिखलाई दिया। इसलिए उस दृश्यको देखकर उसके मनमे खेद हुआ। मैने स्वप्नमे मिथ्या आडम्बर देखा और उससे आनद माना, किंतु उसमेका तो यहाँ कुछ भी नही है, स्वप्नके भोग तो भोगे नही किंतु उसका परिणाम जो खेद है वह मै भोग रहा हूँ; इस प्रकार वह पामर जीव पश्चात्तापमे पड गया।

अहो भव्यो ! भिखारीके स्वप्नकी भाँति ससारके सुख अनित्य हैं। जिस प्रकार स्वप्नमे भिखारीने सुख-समुदाय देखा और आनद माना, उसी प्रकार पामर प्राणी ससार-स्वप्नके सुख-समुदायमे आनद मानते हैं। जैसे वह सुख-समुदाय जागने पर मिथ्या मालूम हुआ उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर ससारके सुख मिथ्या प्रतीत होते है। जैसे भिखारीको स्वप्नके भोग न भोगने पर भी खेदकी प्राप्ति हुई, वैसे ही मोहान्ध प्राणी ससारमे सुख मान वैठते हैं, और उन्हे भोगे हुएके समान मानते हैं, किंतु परिणाममे खेद, दुर्गति और पश्चाताप ही प्राप्त करते है। वे चपल और विनाशीक होते हुए भी उनका परिणाम स्वप्नके खेद जैसा ही रहा है। इसपरसे बुद्धिमान पुरुष आत्महितको खोजते हैं। ससारकी अनित्यता पर एक काव्य है कि —

(उपजाति)

विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतंग,
आयुष्य ते तो जळना तरंग;
पुरंदरी चाप अनंगरंग,
शुं राचिये त्यां क्षणनो प्रसंग ?

विशेषार्थ—लक्ष्मी बिजलीके समान है। जैसे बिजलीकी चमक उत्पन्न होकर विलीन हो जाती है, उसी तरह लक्ष्मी आकर चली जाती है। अधिकार पतगके रग समान है। जैसे पतगका रग चार दिनकी चॉदनी है, वैसे ही अधिकार केवल थोड़े काल तक रहकर हाथमेसे चला जाता है। आयुष्य पानीकी लहरोके समान है। जैसे पानीकी हिलोरे इधर आई कि उधर गई। इसी तरह जन्म पाया और एक देहमे रहने पाया न पाया कि इतने-हीमे इसे दूसरे देहमे जाना पडता है। काम-भोग आकाशमे उत्पन्न हुए इन्द्रधनुषके समान है, जैसे इन्द्रधनुष वर्षाकालमे उत्पन्न होकर क्षण भरमे विलीन हो जाता है, उसी तरह यौवनमे कामके विकार फलीभूत होकर जरावयमे नष्ट हो जाते है। सक्षेपमे, हे जीव ! इन समस्त वस्तुओका सवध क्षण भरका है। इसमे प्रेम-बधनकी सॉकलसे वँधकर मग्न क्या होना ? तात्पर्य यह कि ये सब चपल और विनाशीक है, तू अखड और अविनाशी है, इसलिये अपने जैसी नित्य वस्तुको प्राप्त कर ! यह वोध यथार्थ है।

शिक्षापाठ ४३ : अनुपम क्षमा

क्षमा, अतर्शत्रुको जीतनेका खड्ग है; और पवित्र आचारकी रक्षाका वख्तर है। शुद्धभावसे असह्य दु.खमे समपरिणामपूर्वक क्षमा रखनेवाला मनुष्य भव-सागरसे पार हो जाता है।

कृष्ण वासुदेवके गजसुकुमार नामक छोटे भाई महास्वरूपवान और सुकुमार मात्र बारह वर्षकी आयुमे भगवान नेमिनाथके निकट संसारत्यागी होकर स्मशान-भूमिमे उग्रध्यानमे लवलीन थे, तव

उन्होने एक अद्भुत क्षमामय चरित्रसे महासिद्धिको प्राप्त किया, उसे मैं यहाँ कहता हूँ।

सोमल नामक ब्राह्मणकी सुरूपवर्णसम्पन्न पुत्रीके साथ गजसुकुमारकी सगाई हुई थी। किंतु विवाह होनेसे पूर्व गजसुकुमार तो ससार त्यागकर चले गये। इसलिए अपनी पुत्रीके सुख-हननके द्वेषसे उस सोमल ब्राह्मणको भयकर क्रोध व्याप्त हो गया। वह गजसुकुमारको ढूँढता-ढूँढता उस स्मशान-भूमिमे जा पहुँचा जहाँ महामुनि गजसुकुमार एकाग्र विशुद्धभावसे कायोत्सर्गमे लीन थे और कोमल गजसुकुमारके मस्तकपर चिकनी मिट्टीकी वाड वनाकर उसके भीतर धधकते हुए अगारे भरे, उसे ईंधनसे पूर दया जिससे महाताप उत्पन्न हुआ। ऐसा होनेसे जव गजसुकुमारका कोमल शरीर जलने लगा तव वह सोमल वहाँसे चल दिया।

उस समयके गजसुकुमारके असह्य दु खोका क्या वर्णन किया जा सकता है? परन्तु फिर भी गजसुकुमार समभाव-परिणाममे लीन रहे। उनके हृदयमे किंचित्मात्रभी क्रोध या द्वेष उत्पन्न नही हुआ। उन्होने अपने आत्माको स्थितिस्थापक दशामे लाकर उपदेश दिया कि देख! यदि तूने इसकी पुत्रीके साथ विवाह किया होता तो यह तुझे कन्यादानमे पगडी देता, वह पगडी थोडे समयमे फट जाती तथा वह अतमे दु खदायक होती, किंतु यह इसका वहुत वडा उपकार हुआ कि इसने इस पगडीके वदले मोक्षकी पगड़ी वँधवाई। ऐसे विशुद्धपरिणामोंसे अडिग रहकर समभावसे वह असह्य वेदना सहन करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर अनत जीवन सुखको प्राप्त किया।

अहो! कैसी अनुपम क्षमा और कैसा सुन्दर उसका परिणाम! तत्त्वज्ञानियोका कथन है कि आत्माको मात्र अपने सद्भावमे आना चाहिए, और ऐसा हुआ तो मोक्ष हथेलीमे ही है। गजसुकुमारकी यह सुविख्यात क्षमा हमे कैसा विशुद्ध वोध देती है!

शिक्षापाठ ४४ : राग

श्रमण भगवान महावीरके मुख्य गणधर गौतमका नाम अनेक वार पढा है। गौतमस्वामीके द्वारा प्रवोधित कितने ही शिष्य केवलज्ञानको प्राप्त हो गए, परन्तु स्वय गौतमको केवलज्ञान प्राप्त नही होता था, क्योकि गौतमको भगवान महावीरके अगोपाग, वर्ण, वाणी, रूप इत्यादि पर अभी भी मोह विद्यमान था। निर्ग्रंथ प्रवचनका निष्पक्षपाती न्याय ऐसा है कि किसी भी वस्तुका राग दु.खदायक है। राग ही मोहिनी और मोहिनी ही ससार है। जवतक गौतमके हृदयसे यह राग दूर नही हुआ तव तक उन्हे केवलज्ञान प्राप्त नही हुआ। श्रमण भगवान ज्ञातपुत्र जव अनुपमेय सिद्धिको प्राप्त हुए तव गौतम नगरमेसे आ रहे थे। भगवानके निर्वाणका समाचार सुनकर उन्हे खेद हुआ और वे विरहमे अनुराग वचनसे वोले :—"हे महावोर! आपने मुझे अपने साथ तो नही लया परन्तु मेरी याद तक नही की। मेरी प्रीतिके सम्मुख आपने दृष्टि भी नही की! आपको ऐसा उचित न था।" ऐसे विचार करते-करते उनका लक्ष वदला और वे विराग-श्रेणी पर आरूढ हुए। "मै वडी मूर्खता कर रहा हूँ। वे वीतराग निर्विकारी और निरागी भला मुझपर मोह कैसे रख सकते है? शत्रु और मित्रपर उनकी केवल समान दृष्टि थी। मै उन निरागीका मिथ्या-मोह करता हूँ, मोह ससारका प्रवल कारण है।" इस प्रकार विचारते-विचारते वे शोकका त्याग करके निरागी हुए। तब उन्हे अनन्तज्ञान प्रकाशित हुआ, और अन्तमे निर्वाणको प्राप्त हुए।

गौतम मुनिका राग हमे वहुत सूक्ष्मवोध देता है। भगवानके ऊपरका मोह गौतम जैसे गणधरको भी दु खदायक हुआ तो फिर ससारका और वह भी पामर आत्माओका मोह कैसा अनत दुःख देता होगा! संसाररूपी गाडीके राग और द्वेषरूपी दो वैल है।

यदि ये न हो तो ससार अटक जाये। यह माना हुआ सिद्धात है कि जहाँ राग नही वहाँ द्वेष नही। राग तीव्र कर्मबन्धका कारण है और इसके क्षयसे आत्मसिद्धि है।

शिक्षापाठ ४५ : सामान्य मनोरथ

(सवैया)

मोहिनीभाव विचार अधीन थई, न नीरखुं नयने परनारी,
पथ्थरतुल्य गणुं परवैभव, निर्मळ तात्त्विक लोभ समारी!
द्वादश व्रत अने दीनता धरी, सात्त्विक थाउं स्वरूप विचारी;
ए मुज नेम सदा शुभ क्षेमक, नित्य अखण्ड रहो भवहारी।१।
ते त्रिशलातनये मन चिंतवी, ज्ञान, विवेक, विचार वधारुं;
नित्य विशोध करी नव तत्त्वनो, उत्तम बोध अनेक उच्चारुं।
संशयबीज ऊगे नहीं अंदर, जो जिननां कथनो अवकारुं,
राज्य, सदा मुज एज मनोरथ, धार, थशे अपवर्गउतारु।२।

मोहिनीभावके विचारोंके अधीन होकर नयनोंसे परनारीको न देखूँ, निर्मल तात्त्विक-लोभको उत्पन्न कर दूसरेके वैभवको पत्थरके समान समझूँ। वारह व्रत और दीनता धारण करके स्वरूपको विचार कर सात्त्विक वनूँ। यह मेरा सदा क्षेम करनेवाला और भवका हरनेवाला नियम नित्य अखण्ड रहे ॥१॥

उन त्रिशालानन्दनका मनमे चिन्तवन करके ज्ञान-विवेक और विचारको वढाऊँ, नित्य नौ तत्त्वोका विशोधन करके अनेक प्रकारके उत्तम वोध-वचन मुखसे कहूँ, जिससे सशयरूपी वीजका मनके भीतर उदय न हो ऐसे जिनेन्द्र भगवान्‌के कथनको सदा अवधारण करूँ। हे रायचन्द्र! मेरा सदा यही मनोरथ है इसे धारण कर, इससे मोक्षकी प्राप्ति होगी ॥२॥

शिक्षापाठ ४६ : कपिलमुनि—भाग-१

कौशाम्वी नामकी एक नगरी थी। वहींके राजदरवारमे राज्य-

का आभूषणरूप काश्यप नामक एक शास्त्री रहता था। उसकी स्त्रीका नाम श्रीदेवी था। उसके पेटसे कपिल नामक पुत्रने जन्म लिया। जब वह १५ वर्षका हुआ तो उसके पिताका स्वर्गवास हो गया। कपिल बडे लाड-प्यारमे पला होनेके कारण विशेष विद्वत्ताको प्राप्त नही हो सका, इसलिये उसके पिताका स्थान किसी अन्य विद्वान्को प्राप्त हुआ। काश्यप शास्त्री जो द्रव्य कमाकर रख गये थे उसे, स्वय कुछ कमानेमें असमर्थ होनेसे कपिलने खा-पीकर पूरा कर दिया। एक दिन श्रीदेवी घरके द्वार पर खडी थी कि उसने वहाँसे दो-चार नौकरोंके साथ अपने पतिकी शास्त्रीय पदवी पर नियुक्त विद्वानको जाता हुआ देखा। बड़े ही मान-सम्मानके साथ उस शास्त्रीको जाते हुए देखकर श्रीदेवीको अपनी पूर्व स्थितिका स्मरण हो आया कि—जब मेरे पतिदेव इस पद पर थे तब मै कैसा सुख भोगती थी। मेरा वह सुख तो गया सो गया किन्तु मेरा पुत्र भी पूरा नही पढा। इस प्रकार विचारमे डोलते-डोलते उसकी आँखोमेसे टप-टप आँसू गिरने लगे। इतनेमे घूमता-घूमता कपिल वहाँ आ पहुँचा। उसने श्रीदेवीको रोते हुए देखकर उसका कारण पूछा। कपिलके बहुत आग्रहसे श्रीदेवीने जो बात थी सो कह सुनाई। तत्पश्चात् कपिल बोला—"देखो माँ! मै बुद्धिशाली हूँ, किन्तु मेरी बुद्धिका उपयोग जैसा चाहिये वैसा नही हो सका। इसलिये बिना विद्याके मै यह पद प्राप्त नही कर सका। अब तू जहाँ कहे वहाँ जाकर मै अपनेसे बनती विद्याकी सिद्धि करूँ।" श्रीदेवीने खेदपूर्वक कहा कि—"तुझसे यह नही हो सकेगा। नही तो, आर्यावर्तकी सीमा पर स्थित श्रावस्ती नगरीमे इन्द्रदत्त नामक तेरे पिताका मित्र रहता है, वह अनेक विद्यार्थियोको विद्यादान देता है, यदि तू वहाँ जा सके तो इच्छित सिद्धि अवश्य प्राप्त हो सकती है।" एक दो दिनके बाद तैयारी करके और 'अस्तु' कहकर कपिलजीने रास्ता पकडा।

कुछ समय वाद कपिल श्रावस्तीमे शास्त्रीजीके घर जा पहुँचा, और प्रणाम करके अपना सब इतिहास कह सुनाया। शास्त्रीजीने मित्रपुत्रको विद्यादान देनेके लिए बहुत आनन्द प्रदर्शित किया। किन्तु कपिलके पास कोई पूँजी नही थी कि जिसमेसे वह खा-पी सके और विद्याभ्यास कर सके। इसलिये उसे नगरमे भिक्षावृत्तिके लिये जाना पडता था। याचना करते-करते उसे दोपहर हो जाती थी, इसके वाद वह रसोई वनाना और भोजन करता कि इतनेमे सन्ध्या हो जाती थी। इसीमे फँसे रहनेके कारण वह कोई विद्याभ्यास नही कर पाता था। जब पण्डितजीने उसका कारण पूछा तो कपिलने उन्हे सब कह सुनाया। पडितजी उसे एक गृहस्थके पास ले गये। और उस गृहस्थने कपिल पर दया करके एक विधवा ब्राह्मणीके घर ऐसी व्यवस्था कर दी कि जिससे उसे हमेशा भोजन मिलता रहे, इससे कपिलकी एक चिन्ता कम हुई।

शिक्षापाठ ४७ : कपिलमुनि—भाग-२

यह एक छोटी चिता कम हुई वहाँ दूसरा बडा जजाल खडा हो गया। भोला कपिल अब युवा हो गया था। और जिसके यहाँ वह भोजनके लिए जाता था वह वाई भी युवती थी। उसके घरमे उसके साथ दूसरा कोई आदमी नही था। दोनोमे प्रतिदिन पारस्परिक वातचीतका सबध वढा और वढकर हास्य-विनोदके रूपमे परिणत हुआ, ऐसा करते करते दोनोमे प्रीति वँध गई। कपिल उसपर लुब्ध हो गया! सचमुच, एकान्त बहुत अनिष्ट वस्तु है!!

इस चक्करमे पडकर कपिल विद्या प्राप्त करना भूल गया। गृहस्थकी ओरसे मिलने वाले सीधेमे दोनोका निर्वाह कठिनतासे हो पाता था, परतु कपडे-लत्तेकी परेशानी होने लगी। कपिलने गृहस्थाश्रम वसा लेने-जैसा कर डाला। चाहे-जैसा होने पर भी

लघुकर्मी जीव होनेसे कपिलको सासारिक प्रपचकी कोई विशेष जानकारी नही थी। इसलिए उस बेचारेको यह भी पता नही था कि पैसा कैसे पैदा किया जाय। उस चचला स्त्रीने उसे मार्ग बताया कि घबरानेसे कुछ नही बनेगा, किंतु उपायसे ही सिद्धि है। इस गाँवके राजाका ऐसा नियम है कि प्रात काल सर्वप्रथम जाकर जो ब्राह्मण उसे आशीर्वाद दे उसे वह दो माशा सोना देता है। यदि तुम वहाँ जा सको और प्रथम आशीर्वाद दे सको तो वह दो माशा सोना मिले। कपिलने यह बात स्वीकार की। उसने आठ दिन तक बराबर धक्के खाये किंतु समय बीत जाने पर पहुँचनेसे उसे कुछ सफलता न मिलती थी। इसलिए उसने एक दिन निश्चय किया कि यदि मै चौकमे सो जाऊँ तो चिंता रखकर उठा जायगा। फिर वह चौकमे सोया। आधीरात बीतने पर चन्द्रका उदय हुआ। कपिल प्रभात समीप समझकर मुट्ठी बाँधकर आशीर्वाद देनेके लिए दौडते हुए जाने लगा किंतु रक्षपालने उसे चोर समझकर पकड़ लिया। और इस प्रकार उसे लेनेके देने पड़ गये। प्रभात होने पर रक्षपालने उसे ले जाकर राजाके समक्ष खडा किया। कपिल बेसुध-सा खडा रहा, राजाको उसमे चोरके लक्षण दिखाई नही दिये इसलिए राजाने उससे सारा वृत्तान्त पूछा। चद्रके प्रकाशको सूर्यके समान माननेवाले उस व्यक्तिके भोलेपन पर राजाको दया आ गई। उसकी दरिद्रता दूर करनेकी राजाकी इच्छा हुई इसलिए कपिलसे कहा तुझे आशीर्वाद देनेके लिए जब इतनी बड़ी झझट खडी हो गई तो अब तू अपनी इच्छानुसार जो चाहिए सो माँग ले, मै तुझे दूँगा। यह सुनकर कपिल थोडी देर मूढ-जैसा बना रहा। तब राजा ने कहा ' क्यो विप्र ! कुछ माँगते नही ? कपिलने उत्तर दिया कि मेरा मन अभी स्थिर नही हुआ है, इसलिए यह नही सूझता कि क्या माँगू। राजाने कपिलसे सामनेके बागमे जाकर बैठने और वहाँ

पर स्वस्थ्य मनसे विचार करके फिर माँगनेके लिये कहा। तब कपिल उस बागमे जाकर विचार करने बैठा।

शिक्षापाठ ४८ : कपिलमुनि—भाग-३

जिस कपिलकी दो माशा सोना लेनेकी इच्छा थी अब वह तृष्णाकी तरगोमे बहने लगा। पाच मोहरें माँगनेकी इच्छा की, तो वहाँ विचार आया कि पाँचसे कुछ पूरा होनेवाला नही, अत. पच्चीस मोहरे माँगनी। अब यह विचार भी बदला, पच्चीस मोहरोंसे कही सारे वर्षकी गुजर होने वाली नही, अत सौ मोहरें माँगू। वहाँ पुन विचार बदला, सौ मोहरोसे दो वर्ष कट जायेंगे और सुख-वैभव भोगकर फिर दु खका दु ख, इसलिये एक हजार मोहरोकी याचना करना ठीक होगा। किंतु एक हजार मोहरोंसे बाल बच्चोके दो-चार खर्च आये या ऐसा कुछ हुआ तो पूरा भी क्या पडेगा? अत दस हजार मोहरे माँग लूँ कि जिससे जीवन पर्यंत भी कोई चिंता ही नही। इसके बाद भी इच्छा बदली कि दस हजार मोहरे भी खा डालेगे तो फिर बिना पूँजीके रह जाना पडेगा। इसलिए एक लाख मोहरे माँगनी चाहिएँ कि जिसके ब्याज से समस्त वैभव भोगा जा सके, किंतु हे जीव। लक्षाधिपति तो बहुत हैं। इसमे अपनी प्रसिद्धि कहाँसे होगी? इसलिए एक करोड मोहरें माँगनी कि जिससे महान् श्रीमतता कही जाय। इसके बाद फिर रग बदला। और विचारने लगा कि महान श्रीमताई आ जाने पर भी घरमे अमलदारी नही जमेगी, इसलिए राजासे उसका आधा राज्य माँग लेना चाहिए। किंतु यदि आधा राज्य माँग लिया तब भी राजा मेरे ही बराबर माना जायेगा, और मै उसका याचक भी कहलाऊँगा। इसलिए जब माँगना ही है तो पूरा राज्य ही माँगना चाहिए। इस प्रकार वह तृष्णामे डूबता गया, किंतु वह तुच्छ ससारी रहा इसलिए पुन पीछे लौटा और सोचने लगा कि

भले आदमी! ऐसी कृतघ्नता क्यों करनी चाहिए कि जो अपनेको इच्छानुसार देनेको तत्पर है उसीका राज्य ले लिया जाय और उसीको भ्रष्ट कर दिया जाय? सच पूछा जाय तो इसमे अपनी ही भ्रष्टता है। इसलिए आधा राज्य माँगना चाहिए, किन्तु मुझे यह उपाधि भी नही चाहिए। फिर पैसेकी उपाधि भी कहाँ कम है? इसलिये करोड और लाख छोडकर सौ-दो सौ मोहरें ही माँग लेनी चाहिए। हे जीव! यदि अभीसे दोसौ मोहरे मिल गई तो फिर विषय-वैभवमे ही समय चला जायगा। और विद्याभ्यास एक ओर रखा रह जायेगा, इसलिये अभी तो पाँच मोहरे ही ले लेनी चाहिए, फिर बादकी बात बादमे। अरे! पाँच मोहरोकी भी अभी कुछ आवश्यकता नही, मै तो मात्र दो माशा सोना लेनेके लिए आया था, सो वही माग लेना चाहिए। हे जीव! यह तो बहुत हुआ। तृष्णा समुद्रमे तूने बहुत गोते खाये। सपूर्ण राज्य मागने पर भी जो तृष्णा नही बुझ रही थी, उसे मात्र सतोप और विवेकसे घटायी तो घट गई। यदि यह राजा चक्रवर्ती होता तो फिर मै इससे अधिक क्या माग सकता था? और जब तक विशेष प्राप्त नही होता तब तक मेरी तृष्णा भी शात नही होती, और जब तक तृष्णा शात नही होती तब तक मै सुखी भी न होता। यदि इतनेसे भी मेरी तृष्णा शांत नही होती तो फिर दो माशेसे तो कैसे टलने वाली है?

इस प्रकार उसका आत्मा ठिकाने आया और वह बोला कि अब मुझे दो माशे सोनेका भी कोई काम नही हैं, मै दो माशेसे बढते-बढते किस हद तक पहुँच गया! सचमुच सुख तो सतोषमे ही है और तृष्णा संसार-वृक्षका बीज है। हे जीव! इससे तुझे क्या प्रयोजन है? विद्या ग्रहण करते हुए तू विषयमे पड गया, विषयमे पडनेसे इस उपाधिमे फँस गया, उपाधिके कारण तू अनंत तृष्णा-समुद्रकी

तरगोमे तू गिर पडा। इस प्रकार एक उपाधिसे इस ससारमे अनंत उपाधियाँ महन करनी पडती है, इसलिए इसका त्याग करना उचित है। सत्य सतोप जैसा निरुपाधि सुख एक भी नही है। इस प्रकार विचार करते-करते तृष्णाको शात करनेसे उस कपिलके अनेक आवरण क्षय हो गये। उसका अत करण प्रफुल्लित और अत्यत विवेकशील हो गया। विवेक ही विवेकमे उत्तम ज्ञानके द्वारा वह अपने आत्माका विचार कर सका और अपूर्व श्रेणीपर चढकर केवलज्ञानको प्राप्त हुआ ऐसा कहा जाता है।

अहो! तृष्णा कैसी कनिष्ठ वस्तु है। ज्ञानीजन कहते हैं कि—तृष्णा आकाशके समान अनत है। वह निरतर नवयौवना बनी रहती है। जितना इच्छित मिल जाता है वह और अधिक इच्छाको बढा देता है। इसलिए सतोप ही कल्पवृक्ष है, और यही मात्र मनोवांछाको पूर्ण करता है।

शिक्षापाठ ४९ : तृष्णाकी विचित्रता

मनहर छद

(एक गरीबकी बढती हुई तृष्णा)

हती दीनताई त्यारे ताकी पटेलाई अने,
मळी पटेलाई त्यारे ताकी छे शेठाईने,
सापडी शेठाई त्यारे ताकी मंत्रिताई अने,
आवी मंत्रिताई त्यारे ताकी नृपताईने।
मळी नृपताई त्यारे ताकी देवताई अने,
दीठी देवताई त्यारे ताकी शकराईने;
अहो! राजचंद्र मानो मानो शंकराई मळी;
वधे तृष्णाई तोय जाय न मराईने।

[२]

करोचली पडी दाढी डाचां तणो दाट वळ्यो,

काळी केशपटी विषे श्वेतता छवाई गई,
सूघवुं, सांभळवुं, ने देखवुं ते मांडी वाळ्युं,
तेम दांत आवली ते, खरी के खवाई गई।
वळी केड वांकी, हाड गयां, अंगरंग गयो,
ऊठवानो आय जतां लाकडी लेवाई गई;
अरे ! राजचंद्र एम, युवानी हराई पण,
मनथी न तोय राड ममता मराई गई।

[३]

करोडोना करजना शिर पर डंका वागे,
रोगथी रूंधाई गयु, शरीर सुकाईने;
पुरपति पण माथे, पीडवाने ताकी रह्यो,
पेट तणी वेठ पण, शके न पुराईने।
पितृ अने परणी ते, मचावे अनेक धंध,
पुत्र, पुत्री भाखे खाउँ खाउँ दुःखदाईने,
अरे ! राजचंद्र तोय जीव झावा दावा करे,
जंजाळ छंडाय नहीं, तजी तृषनाईने।

[४]

थई क्षीण नाडी अवाचक जेवो रह्यो पडी,
जीवन दीपक पाम्यो केवळ झंखाईने;
छेल्ली ईसे पड्यो भाळी भाईए त्यां एम भाख्युं,
हवे टाढी माटी थाय तो तो ठीक भाईने।
हाथने हलावी त्यां तो खीजी बुढ्ढे सूचव्युं ए,
बोल्या विना बेस बाळ तारी चतुराईने !
अरे ! राजचंद्र देखो देखो आशापाश केवो ?
जतां गई नहीं डोशे ममता मराईने !

देखो देखो, यह आशाका पाश कैसा है ? मरते मरते भी बुड्ढेकी ममता नही मरी ॥४॥

शिक्षापाठ ५० : प्रमाद

धर्मका अनादर, उन्माद, आलस्य और कषाय यह सब प्रमादके लक्षण है ।

भगवान्ने उत्तराध्ययन सूत्रमें गौतमसे कहा है कि—हे गौतम ! मनुष्यकी आयु कुशकी नोकपर पडी हुई जलकी बूँदके समान है । जैसे उस बूँदके खिर जानेमे देर नही लगती वैसे ही यह मनुष्य-आयु जानेमे देर नही लगती । इस उपदेशकी गाथाकी चौथी पक्ति स्मरणमे अवश्य रखनी चाहिए कि 'समय गोयम मा पमाए' । इस पवित्र वाक्यके दो अर्थ होते है । एक तो यह कि हे गौतम, समय अर्थात् अवसरको पाकर प्रमाद नही करना चाहिए । और दूसरा यह कि प्रतिक्षण व्यतीत होते हुए कालके असख्यातवे भाग अर्थात् एक समय मात्रका भी प्रमाद नही करना चाहिए । क्योकि देह क्षणभगुर है । कालरूपी शिकारी सिरपर धनुष-बाण चढाकर तैयार खडा है । अब केवल यही दुविधा हो रही है कि उसने शिकारको लिया अथवा ले लेगा । वहाँ प्रमाद करनेसे धर्म-कर्तव्यका करना रह जायगा ।

अति विचक्षण पुरुष ससारकी सर्वोपाधिका त्याग करके दिन-रात धर्ममे सावधान रहते है और पलभर भी प्रमाद नही करते हैं । विचक्षण पुरुष अहोरात्रिके थोड़े भागको भी निरतर धर्म-कर्तव्यमे व्यतीत करते हैं, और यथाअवसर धर्मकर्तव्य करते रहते हैं । किंतु मूढपुरुष निद्रा, आहार, मौजशौक और विकथा एव रग-रागमे आयु व्यतीत कर डालते हैं । इसका परिणाम वे अधो-गतिके रूपमे प्राप्त करते है ।

जैसे बने वैसे यत्न और उपयोगसे धर्मको साध्य बनाना उचित है । साठ घडीकी दिनरात्रिमे हम बीस घडी तो निद्रामे व्यतीत कर

देते हैं, और शेष चालीस घड़ियाँ उपाधि, गप्प और इधर उधरकी भटका-भटकीमें व्यतीत कर डालते हैं। इसकी अपेक्षा साठ घड़ीके समयमेंसे दो चार घड़ी विशुद्ध धर्म-कर्तव्यके लिये उपयोगमें ले तो यह सरलतासे बन सकता है और इसका परिणाम भी कितना सुंदर हो सकता है।

पल अमूल्य वस्तु है। चक्रवर्ती भी एक पल प्राप्त करनेके लिए अपनी सम्पूर्ण ऋद्धि समर्पित कर दे तो भी वह उसे नहीं पा सकता। एक पल भी व्यर्थ खोना एक भव हार जानेके समान है। यह बात तत्त्वकी दृष्टिसे सिद्ध है।

शिक्षापाठ ५१ : विवेकका अर्थ क्या है?

लघु शिष्य—भगवन्! आप जगह जगह हमसे यह कहते आये हैं कि विवेक महान् श्रेयस्कर है, विवेक अंधकारमें पड़े हुए आत्माको पहचाननेके लिए दीपकके समान है, विवेकके द्वारा ही धर्म स्थिर रहता है, जहाँ विवेक नहीं होता वहाँ धर्म नहीं होता, तो हमें बतलाइए कि विवेकका अर्थ क्या है?

गुरु—हे आयुष्मान्! सत्यासत्यको उसके स्वरूपसे समझनेका नाम विवेक है।

लघु शिष्य—सत्यको सत्य और असत्यको असत्य कहना तो सभी समझते हैं। तब क्या महाराज! यह कहा जा सकता है कि उन्होंने धर्मके मूलको प्राप्त कर लिया है?

गुरु—तुम लोग जो बात कह रहे हो उसका कोई दृष्टान्त भी तो दो।

लघु शिष्य—हम स्वयं कड़वेको कड़वा और मीठेको मीठा तथा विषको विष और अमृतको अमृत कहते हैं।

गुरु—आयुष्मान्! ये सब द्रव्य पदार्थ हैं। किन्तु आत्मामें क्या कड़वापन, क्या मिठास, क्या विष और क्या अमृत है? इन भाव-पदार्थोंकी इनसे क्या कोई परीक्षा हो सकती है?

लघु शिष्य—भगवन् ! इस सम्बन्धमें तो हमारा कोई लक्ष्य भी नही है।

गुरू—तब फिर यह समझना चाहिए कि ज्ञान-दर्शनरूप आत्माके सत्यभाव पदार्थको अज्ञान और अदर्शनरूपी असत् वस्तुने घेर लिया हैं। इसमे इतनी अधिक मिश्रता आ गई है कि परीक्षा करना अत्यत दुर्लभ है। आत्माने अनतबार ससारके सुख भोगे हैं, फिरभी उनमेसे अभी भी मोह दूर नही हुआ है और आत्मा उसे अमृतके समान मानता है, यह अविवेक है। क्योकि ससार कड़ुवा है और कड़ुवा फल देता है। इसी प्रकार जो वैराग्य कडवे विपाककी औषधि है उसे यह आत्मा कड़वा मानता है, यह भी अविवेक है। ज्ञान, दर्शन आदि गुणोको अज्ञान, अदर्शनने घेरकर जो मिश्रता कर डाली है उसे पहचानकर भाव-अमृतमें आनेका नाम विवेक है। तब फिर कहो कि यह विवेक कैसी वस्तु सिद्ध हुई ?

लघु शिष्य—अहो ! यह सच है कि विवेक ही धर्मका मूल और धर्मरक्षक कहलाता है। और यह भी सत्य है कि विवेकके बिना आत्म-स्वरूपको नही पहचाना जा सकता। ज्ञान, शील, धर्म, तत्त्व और तप यह सब विवेकके बिना उदयको प्राप्त नही होते, आपका यह कथन यथार्थ है। जो विवेकी नही है वह अज्ञानी और मद है। वही पुरुष मतभेद और मिथ्यादर्शनमे लिपटा रहता है। अब हम आपकी विवेक सबधी शिक्षाका निरंतर मनन करेगे।

शिक्षापाठ ५२ : ज्ञानियोने वैराग्यका उपदेश किसलिए दिया है ?

संसारके स्वरूपके सबधमें पहले जो कुछ कहा गया है वह तुम्हारे ध्यानमे होगा।

क्षणिकतासे, रोगसे और जरासे ग्रसित है। चक्रवर्ती द्रव्यसे समर्थ है, महान पुण्यशाली है, सातावेदनीयको भोगता है, और वेचारा सुअर असाता वेदनीयको भोग रहा है। दोनोको असाता और साता विद्यमान है, किन्तु चक्रवर्ती महासमर्थ है। यदि वह जीवनपर्यंत मोहान्ध वना रहता है तो वह सारी वाजीको हार जानेके समान करता है। सुअरका भी यही हाल है। चक्रवर्ती श्लाघापुरुष है इसलिए सुअरकी इस रूपमे उससे कोई तुलना नही की जा सकती किंतु इस स्वरूपमे है। भोगोके भोगनेमे भी दोनो तुच्छ है, दोनोके शरीर मास–मज्जा आदिके है। ससारकी यह उत्तमोत्तम पदवी ऐसी है कि जहाँ ऐसा दु ख, क्षणिकता, तुच्छता और अन्धपना पाया जाता है तव फिर अन्यत्र सुख कैसे माना जाय ? यह सुख नही है, फिर भी यदि इसे सुख माना जाय तो वह भययुक्त और क्षणिक होनेसे दु ख ही है। अनतताप, अनतशोक और अनत दु ख देखकर ही ज्ञानियोने इस ससारसे पीठ फेर ली है, जो कि सत्य है। इस ओर फिर मुडकर देखने जैसा नही है। वहाँ दु ख दु ख और दु ख ही है। अथवा यो कहना चाहिए कि वह दु खका समुद्र है।

वैराग्य ही अनत सुखमे ले जाने वाला उत्कृष्ट मार्गदर्शक है।

शिक्षापाठ ५३ : महावीर शासन

वर्तमानमे जो शासन चल रहा है वह श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्रणीत है। भगवान महावीरको मोक्ष गये हुए चौवीस सौ चौदह[1] (२४१४) वर्ष हो चुके हैं। मगध देशके क्षत्रियकुड नगरमे राजा सिद्धार्थकी रानी त्रिशलादेवी क्षत्रियाणीकी कोखसे भगवान महावीरने जन्म लिया था। भगवान महावीरके वडे भाईका नाम नन्दि-

---

१ मोक्षमाला प्रथमावृत्ति वीरसवत् २४१४ अर्थात् विक्रम संवत् १९४४ मे छपी थी, तव भगवान महावीरको मोक्ष गये २४१४ वर्ष हुए थे।

है ? धर्मतीर्थके उदयके लिये कहाँ लक्ष्य देते हैं और लगनके साथ कहाँ धर्मतत्त्वकी शोध करते हैं ? हमने श्रवक कुलमे जन्म लिया है इसलिए हम श्रावक कहलाते है यह वात हमें भावकी दृष्टिसे मान्य नही करनी चाहिए, प्रत्युत इसके लिए आवश्यक आचार, ज्ञान, खोज अथवा इनमेसे कोई विशेष लक्षण जिसमे पाये जाये उसे यदि श्रावक माना जाय तो वह यथायोग्य है। अनेक प्रकारकी द्रव्यादिक सामान्य दया श्रावकके घरमे जन्म पाती है और वह उसका पालन भी करता है, यह वात प्रशसनीय है। किन्तु तत्त्वको कोई विरले ही जानते हैं। जाननेकी अपेक्षा अधिक शका करने वाले अर्धदग्ध लोग भी हैं। और जाननेके बाद अहंकार करने वाले भी हैं। किंतु जानकर तत्त्वकी तराजूमे तौलनेवाले कोई विरले ही हैं। परंपराकी आम्नायसे केवलज्ञान, मन पर्ययज्ञान और पर-मावधिज्ञान विच्छेद हो गये। दृष्टिवादका विच्छेद हो गया और सिद्धान्तका वहुभाग भी विच्छेद हो गया है। मात्र थोड़ेसे वचे हुए भाग पर सामान्य समझसे शका करना योग्य नही है। जो भी शका हो उसे विशेष जानने वालेसे पूछना चाहिए, और यदि वहाँसे भी यथेच्छ समाधान न मिले तो भी जिनवचनकी श्रद्धाको चल-विचल नही करना चाहिये। अनेकात शैलीके स्वरूपको विरले ही जानते हैं।

भगवानके कथनरूप मणिके घरमें अनेक पामर लोग दोषरूपी छिद्रोंको ढूँढनेका मथन (प्रयास) करके अधोगतिजन्य कर्मका वध करते हैं। विचार तो करो कि हरी वनस्पति (शाक-भाजी) के वदलेमें उसे सुखाकर उपयोगमें लेनेकी वात किसने और किस विचारसे ढूँढ निकाली होगी ?

यह विषय वहुत वड़ा है। इस सवधमे यहाँ कुछ भी कहने की आवश्यकता नही है। सक्षेपमे कहनेका तात्पर्य यह है कि हमें

मत्ताकी बात नही है। पहले यह तो विचार करो कि शरीर किन चीज़ोंसे बना है। यह रक्त, पित्त, मल, मूत्र, श्लेष्मका भंडार है। और इसपर मात्र चमडी मढी हुई है, तब फिर यह पवित्र कैसे हो सकता है? और फिर साधु ऐसा कोई सासारिक काम नही करता जिससे उसे स्नान करनेकी आवश्यकता रहे।

जिज्ञासु—किन्तु स्नान करनेसे उन्हे क्या हानि है?

सत्य—यह तो स्थूलबुद्धिका ही प्रश्न है। पहले यह ज्ञात होना चाहिए कि स्नान करनेसे असंख्यात जन्तुओका विनाश, कामाग्निकी प्रदीप्ति, व्रतका भंग, परिणामोका बदलना, इत्यादि तमाम अशुचियाँ उत्पन्न होती है। और इससे आत्मा महान् मलिन हो जाता है। शरीरकी, जीवहिंसायुक्त जो मलिनता है सो अशुचि है। तत्त्व विचारसे यह समझना चाहिए कि अन्य मलिनतासे तो आत्माकी उज्वलता होती है, स्नान करनेसे व्रतभग होकर आत्मा मलिन होता है, और आत्माकी मलिनता ही अशुचि है।

जिज्ञासु—आपने मुझे बहुत ही सुन्दर कारण बतलाया। सूक्ष्म विचार करने पर जिनेश्वरके कथनसे बोध और अति आनन्द प्राप्त होता है। अच्छा, अब यह बतलाइये कि—गृहस्थाश्रमियोको जीव-हिंसा अथवा संसार कर्तव्यसे हुई शरीरकी अशुचि दूर करनी चाहिए या नही?

सत्य—समझके साथ अशुचिको दूर करना ही चाहिये। जैन-दर्शनके समान अन्य एक भी पवित्र दर्शन नही है। और वह अप-वित्रताका बोध नही करता, किन्तु शौचाशौचका स्वरूप समझ लेना चाहिए।

शिक्षापाठ ५५ : सामान्य नित्यनियम

प्रभातसे पूर्व जागृत होकर नमस्कार मत्रका स्मरण करके मन-

आपके द्वारा कहे गये दया, शान्ति, क्षमा और पवित्रताको मै नही पहचाना। हे भगवन् ! मै भूला, भटका, भ्रमित हुआ और अनन्त ससारकी विडम्बनामे पडा हूँ। मै पापी हूँ। मै बहुत मदोन्मत्त और कर्मरजसे मलिन हूँ। हे परमात्मन्! आपके कहे हुए तत्त्वके बिना मेरा मोक्ष नही। मै निरन्तर प्रपचोमे पडा हूँ। अज्ञानसे अध हुआ हूँ, मुझमें विवेकशक्ति नही, मै मूढ हूँ, मै निराश्रित हूँ, अनाथ हूँ। निरागी परमात्मन्! अब मै आपकी, आपके धर्मकी और आपके मुनियोकी शरण ग्रहण करता हूँ। मेरी यह अभिलाषा है कि मेरे अपराध क्षय हो और मै समस्त पापोंसे मुक्त होऊँ। मै अब अपने विगत पापोका पश्चात्ताप करता हूँ। ज्यो-ज्यो मै सूक्ष्म विचारपूर्वक गहराईमे उतरता हूँ त्यो-त्यो आपके द्वारा कथित तत्त्वोके चमत्कार मेरे आत्मस्वरूपका प्रकाश करते हैं। आप वीतरागी, निर्विकारी, सद्चिदानन्दस्वरूप, सहजानन्दी, अनन्तज्ञानी, अनन्तदर्शी और त्रैलोक्यप्रकाशक है। मै मात्र अपने हितके लिए आपकी साक्षीमे क्षमा चाहता हूँ। मेरी यही आकाक्षा और वृत्ति हो कि एक क्षण भर भी आपके द्वारा कहे गये तत्त्वमे शंका न हो और आपके द्वारा बताए हुए मार्गमे दिनरात बना रहूँ। हे सर्वज्ञ भगवान् ! मै आपसे विशेप क्या कहूँ ? आपसे कुछ अज्ञात नही है। मै मात्र पश्चात्तापसे कर्मजन्य पापकी क्षमा चाहता हूँ। ॐ शान्ति शान्ति शान्ति!

शिक्षापाठ ५७ : वैराग्य धर्मका स्वरूप है

कोई भी रक्त-रजित वस्त्र रक्तसे धोनेपर धोया नही जा सकता किन्तु वह और अधिक रगा जाता है। यदि उस वस्त्रको पानीसे धोया जाय तो उसकी मलिनता दूर होना सम्भव है। इस दृष्टातको आत्मापर घटित करना चाहिए। आत्मा अनादिकालसे ससाररूपी रक्तसे मलिन है। वह मलिनता इसके रोम-रोममे व्याप्त

हो गई है। यदि हम उस मलिनताको विषय-वासना अथवा शृंगारसे दूर करना चाहे तो वह दूर नही की जा सकती। जैसे रक्तसे रक्त नही धोया जा सकता उसी प्रकार शृंगारसे विषयजन्य आत्म-मलिनता दूर नही की जा सकती यह बिल्कुल निश्चित बात है। इस जगत्मे अनेक धर्ममत प्रचलित है, उस सम्बन्धमे निष्पक्ष होकर विचार करनेमे पहले इतना विचार करना आवश्यक है कि जहाँ स्त्रियोका भोग करनेका उपदेश दिया गया हो, लक्ष्मी-लीलाकी शिक्षा दी गई हो, राग-रग, मस्ती, और ऐशो-आराम करनेका तत्त्व बताया गया हो वहाँसे अपने आत्माको सत् शान्ति नही मिल सकती। क्योकि यदि इसे धर्ममत माना जाय तो सम्पूर्ण ससार ही धर्म-मत युक्त हो जायेगा। प्रत्येक गृहस्थका घर इसी योजनासे परिपूर्ण होता है। बाल-बच्चे, स्त्री, रागरंग और गान-तान वहाँ जमा रहता है। और यदि ऐसे घरको धर्म-मन्दिर कहा जाय तो फिर अधर्म स्थान कौन सा कहलायेगा ? और फिर ऐसी स्थितिमे हम जैसा बरताव कर रहे हैं वैसा बरताव करनेसे बुरा भी क्या है ? यदि कोई कहे कि उस धर्म-मन्दिरमे तो प्रभुकी भक्ति हो सकती है, तो उसे खेदपूर्वक इतना ही उत्तर देना है कि वह परम तत्त्व और उसकी वैराग्यमय भक्तिको नही जानता। चाहे जो हो किन्तु हमे अपने मूल विचार पर आना चाहिए। तत्त्वज्ञानकी दृष्टि से आत्मा ससारमे विषयादिकी मलिनतासे पर्यटन करता है। उस मलिनताका क्षय विशुद्ध भावजलसे होना चाहिए। अर्हन्तके द्वारा कहे हुए तत्त्वरूपी साबुन और वैराग्यरूपी जलसे उत्तम आचार-रूपी पत्थर पर रख कर आत्मारूपी वस्त्रको धोनेवाले निर्ग्रन्थ गुरू होते हैं। यदि इसमे वैराग्यरूपी जल नही तो अन्य समस्त सामग्री कुछ भी नही कर सकती इसलिए वैराग्यको धर्मका स्वरूप कहा जा सकता है। यदि अर्हन्तके द्वारा प्रणीत तत्त्व वैराग्यका ही उप-देश करते हैं तो उसीको धर्मका स्वरूप समझना चाहिए।

शिक्षापाठ ५८ : धर्मके मतभेद—भाग १

इस जगतीतल पर अनेक प्रकारके धर्म-मत मौजूद है। और यह भी न्याय-सिद्ध है कि ऐसे मतभेद अनादिकालसे हैं। किन्तु यह मतभेद कुछ कुछ रूपान्तरित होते जाते है। इस सम्बन्धमे यहाँ कुछ विचार करे।

इनमेसे अनेक मतभेद परस्पर मिलते-जुलते-से है और कितने ही परस्पर विरुद्ध है। कितने ही मतभेद मात्र नास्तिकोके द्वारा फैलाये हुये है। बहुतसे मत सामान्य नीतिको धर्म कहते है और बहुत-से मत ज्ञानको ही धर्म कहते है। कुछ अज्ञानको ही धर्म-मत मानते हैं। कुछ लोग भक्तिको धर्म कहते है, कितने ही क्रियाको धर्म कहते है, कुछ विनयको धर्म कहते हैं और कितने ही शरीरकी रक्षाको धर्म-मत मानते है।

इन धर्म-स्थापकोने ऐसा उपदेश दिया मालूम होता है कि हम जो कहते है वह सर्वज्ञकी वाणीरूप और सत्य है, और शेष सब मत असत्य तथा कुतर्कवादी है, इसलिए उन मतवादियोने एक-दूसरेका योग्य अथवा अयोग्य खडन किया है। वेदान्तके उपदेशक यही उपदेश देते है, साख्यका भी यही उपदेश है, बुद्धका भी यही उपदेश है। न्यायमतवालोका भी यही उपदेश है। वैशेषिकोका भी यही उपदेश है। शक्तिपथ वालोका भी यही उपदेश है। वैष्णवादिकका भी यही उपदेश है। मुसलमानोका भी यही उपदेश है और क्राइस्टका भी यही उपदेश है कि हमारा यह कथन तुम्हे सर्वसिद्धि प्रदान करेगा। तब फिर हमे क्या विचार करना चाहिए?

वादी और प्रतिवादी दोनो सच्चे नही होते और दोनो ही झूठे भी नही होते। अधिक हुआ तो वादी कुछ अधिक सच्चा और प्रतिवादी कुछ थोडा झूठा होता है[1]। मात्र दोनोकी बात झूठी नही

[1] अथवा प्रतिवादी कुछ अधिक सचचा और वादी कुछ कम झूठा होता है।

होनी चाहिए। ऐसा विचार करनेपर एक धर्म-मत सच्चा सिद्ध होता है और शेष सब झूठे ठहरते हैं।

जिज्ञासु—यह एक आश्चर्यकारक बात है। सबको असत्य अथवा सबको सत्य कैसे कहा जा सकता है? यदि सबको असत्य कहा जाय तो हम नास्तिक ठहरते हैं और धर्मकी सच्चाई जाती रहती है। इतनी बात तो निश्चित है कि धर्मकी सचाई है, और सृष्टि पर उसकी आवश्यकता है। यदि हम यह कहे कि एक धर्म-मत सत्य है और शेष सब असत्य है, तो इस बातको सिद्ध करके बतलाना चाहिए। यदि हम सभीको सत्य कहते है तो यह रेतकी दीवाल बनाने जैसी बात हुई क्योकि यदि ऐसा है तो इतने सारे मतभेद कैसे हो गये और तब फिर सभी एक ही प्रकारके मत स्थापित करनेके लिये क्यो प्रयत्न न करे? यो पारस्परिक विरोधा-भासके विचारसे थोडी देरके लिए रुक जाना पडता है।

फिर भी इस सम्बन्धमे मै अपनी बुद्धिके अनुसार थोडा स्पष्टी-करण करता हूँ। यह स्पष्टीकरण सत्य और मध्यस्थ भावनाका है, एकान्त अथवा एक मतकी दृष्टिसे नही है, पक्षपात अथवा अविवेक-युक्त नही है किन्तु उत्तम और विचार करने योग्य है। देखनेमे यह सामान्य मालूम होगा किन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करने पर अत्यन्त रहस्य-पूर्ण प्रतीत होगा।

शिक्षापाठ ५९ : धर्मके मतभेद—भाग २

हमे इतना तो स्पष्ट मानना ही होगा कि चाहे जो एक धर्म इस ससारमे सम्पूर्ण सत्यतासे युक्त है। अब एक दर्शनको सत्य कहने पर बाकी समस्त धर्ममतोको केवल असत्य कहना पडे, परन्तु मै ऐसा नही कह सकता। शुद्ध आत्मज्ञानदाता निश्चयनयसे तो वे असत्य रूप सिद्ध होते है, किन्तु व्यवहारनयसे उन्हे असत्य नही कहा जा

सकता। मै तो केवल इतना ही कहता हूँ कि एक सत्य है और शेष सब अपूर्ण तथा सदोष हैं। तथा कितने ही कुतर्कवादी और नास्तिक हैं, वे सर्वथा असत्य है, परन्तु जो परलोकसम्बन्धी अथवा पाप सम्बन्धी कुछ भी उपदेश अथवा भय बतलाते है इस प्रकारके धर्म-मतको अपूर्ण और सदोष कहा जा सकता है। एक दर्शन जो कि निर्दोष और पूर्ण कहा जा सकता है उस सम्बन्धी बात अभी एक ओर रखते है।

अब यहाँ शका हो सकती है कि सदोष और अपूर्ण कथनका उपदेश उसके प्रवर्तकने क्यों दिया होगा? इसका समाधान होना चाहिए। उन धर्म-मतवालोकी जहाँ तक बुद्धिकी गति पहुंच सकी वहाँ तक उन्होने विचार किया। अनुमान, तर्क और उपमा आदि के आधारसे उन्हे जो कथन सिद्ध प्रतीत हुआ वह मानो प्रत्यक्ष रूपसे भी सिद्ध ही है, ऐसा उन्होने बतलाया। उन्होंने जो पक्ष लिया उसमे मुख्यत एकान्तिकवाद लिया, भक्ति, विश्वास, नीति, ज्ञान अथवा क्रियामेसे एक विषयका विशेष वर्णन किया, इससे उन्होने अन्य मानने योग्य विषयोको दूषित सिद्ध कर दिया। और फिर उन्होने जिन विषयोका वर्णन किया उन्हे समस्त भाव-भेदोसे नही जाना था, किन्तु अपनी महाबुद्धिके अनुसार उनका बहुत-सा वर्णन किया। और तार्किक सिद्धात तथा दृष्टात आदिकसे सामान्य बुद्धि वाले लोगोंके सम्मुख अथवा जड बुद्धि वाले मनुष्योके सम्मुख उन्होने सिद्ध कर दिखाया। कीर्ति, लोकहित अथवा अपनेको भगवान् मनवानेकी आकाक्षामेसे एकाध भी उनके मनकी भ्रमणा होनेसे वे अत्यन्त उग्र उद्यमादिकसे विजयको प्राप्त हुए। कुछ लोगोने शृगार और लोकप्रिय लहरी[1] साधनोसे मनुष्यके मनको हर लिया। वैसे तो दुनिया मूलमें ही मोहमायामे डूबी पडी है इसलिए इस लौकिक

1 पाठान्तर—लोकेच्छित

आनन्द भरे लहरी दर्शनने भेंटियावमान-रूप होकर और प्रसन्न होकर उनके कथनको मान्य रखा। कुछ लोगोंने नीति और यत् किंचित वैराग्य आदि गुण देखकर उनके कथनको मान्य रखा। क्योकि प्रवर्तककी बुद्धि उनकी अपेक्षा विशेष होती है इसलिए उसे बादमे भगवान् रूप ही मान लिया। कुछ लोगोंने वैराग्यसे धर्म-मत फैलाकर बादमे कुछ सुख-शील वाले साधनोका उपदेश ठीक दिया। अपने मतकी स्थापना करनेके भ्रममे और अपनी अपूर्णता इत्यादि चाहे जिस कारणसे दूसरेका कहा हुआ उन्हे रुचिकर नही लगा इसलिए उन्होने अपना एक अलग ही मार्ग निकाल लिया। इस प्रकार अनेक मत-मतान्तरोका जाल फैलता चला गया। चार-पाँच पीढियो तक एक का एक ही धर्मपालन किया इसलिए बादमे वह कुल-धर्म हो गया। और फिर इस प्रकार वह जगह-जगह पर होता चला गया।

शिक्षापाठ ६० : धर्मके मतभेद—भाग ३

यदि एक दर्शन पूर्ण और सत्य न हो तो दूसरे धर्म-मतको अपूर्ण और असत्य किसी प्रमाणसे नही कहा जा सकता। इसलिए जो एक दर्शन पूर्ण और सत्य है उसके तत्त्व प्रमाणसे अन्य मतोकी अपूर्णता और एकान्तिकता देखनी चाहिए।

इन दूसरे धर्म-मतोमे तत्त्वज्ञानसम्बन्धी यथार्थ सूक्ष्म विचार नही है। कितने ही जगत्कर्ताका उपदेश देते हैं, किन्तु जगत्कर्ता प्रमाणके द्वारा सिद्ध नही हो सकता। कुछ लोग यह कहते है कि ज्ञानसे मोक्ष होता है किन्तु वे एकान्तिक हैं, इसी प्रकार ऐसा कहने वाले भी एकान्तिक है कि क्रियासे मोक्ष होता है। जो यह कहते हैं कि ज्ञान और क्रियासे मोक्ष है वे उसके यथार्थस्वरूपको नहीं जानते और वे दोनोके भेदको श्रेणीवद्ध नही कह सके। यही इनकी सर्वज्ञताकी कमी दिखाई दे जाती है। सत्‌देवतत्त्वमे कहे गये

अठारह दूषणोसे ये धर्ममत स्थापक रहित नही थे ऐसा उनके द्वारा रचित चरित्रो परसे भी तत्त्वकी दृष्टिसे दिखाई देता है। कितने ही मतोमे हिंसा, अब्रह्मचर्य इत्यादि अपवित्र विषयोका उपदेश पाया जाता है जो कि सहज ही अपूर्ण और सराग व्यक्तियोंके द्वारा स्थापित किया हुआ दिखाई देता है। किसीने सर्वव्यापक मोक्ष, किसीने शून्यरूप मोक्ष, किसीने साकार मोक्ष और किसीने अमुक काल तक रहकर पतित होने रूप मोक्ष माना है किन्तु इनमेसे कोई भी बात सप्रमाण सिद्ध नही हो सकती। [1]उनके अपूर्ण विचारोका खडन यथार्थ तथा देखने योग्य है, जो कि निर्ग्रन्थ आचार्योके द्वारा रचित शास्त्रोमे देखनेको मिल सकेगा।

वेदके अतिरिक्त अन्य मतोंके प्रवर्तक, उनके चरित्र और विचार इत्यादि पढनेसे यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि वे मत अपूर्ण हैं। [2]वेदने प्रवर्त्तकोको भिन्न-भिन्न करके बेधडक होकर बातको मर्ममे स्थापित करके गम्भीर डौल भी किया है। फिर भी इनके अत्यधिक मतोको पढनेसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जायेगा कि यह भी अपूर्ण और एकान्तिक है।

जिस पूर्ण दर्शनके विषयमे यहॉ कहना है वह जैन अर्थात् वीतरागके द्वारा स्थापित किये गए दर्शनके सम्बन्धमे है। इसके उपदेशक सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे। काल-भेदके होने पर भी यह बात

---

१ पाठान्तर—उनके विचारोकी अपूर्णता निस्पृही तत्त्ववेत्ताओने दर्शायी है, वह यथास्थित जानने योग्य है।

२. पाठान्तर—वर्त्तमानमे जो वेद है वे बहुत प्राचीन ग्रन्थ है इसलिए उस मतकी प्राचीनता है। परन्तु वे भी हिंसाके कारण दूषित होनेसे अपूर्ण हैं, और सरागीके वाक्य हैं। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

सैद्धान्तिक प्रतीत होती है। दया, ब्रह्मचर्य, शील, विवेक, वैराग्य, ज्ञान, क्रिया आदिके समान एकने भी पूर्ण वर्णन नही किया है। इसीके साथ शुद्ध आत्मज्ञान, उसकी कोटियाँ, जीवके च्यवन, जन्म, गति, विगति, योनि द्वार, प्रदेश, काल और उनके स्वरूपके विषयमे ऐसा सूक्ष्म उपदेश दिया गया है कि जिससे उनकी सर्वज्ञताके सम्बन्धमे किसी भी प्रकारकी कोई शका नही रहती। काल-भेदसे परम्पराम्नायसे केवलज्ञान आदि ज्ञान दिखाई नही देते, फिर भी जो-जो जिनेश्वरके रहे हुए सैद्धान्तिक वचन हैं वे अखड हैं। उनके कितने ही सिद्धान्त ऐसे सूक्ष्म हैं कि उनमेसे एक-एक पर विचार करने पर सारा जीवन समाप्त हो सकता है। इसके बाद आगे इस सम्बन्धमे कुछ और कहा जायेगा।

जिनेश्वरके द्वारा कहे गये धर्मतत्त्वसे किसी भी प्राणीको लेश-मात्र खेद उत्पन्न नही होता। इसमे समस्त आत्माओकी रक्षा और सर्वात्मशक्तिका प्रकाश निहित है। इन भेदोके पढनेसे, समझनेसे और उनपर अत्यन्त सूक्ष्म विचार करनेसे आत्मशक्ति प्रकाश पाती है और वह जैन दर्शनकी सर्वज्ञताकी, सर्वोत्कृष्टताकी स्वीकारोक्ति करवाती है। अति मनन करनेसे समस्त धर्ममतको जानकर तुलना करनेवालेको यह कथन अवश्य सत्य सिद्ध होगा।

सर्वज्ञ-दर्शनके इन मूलतत्त्वो और अन्य मतके मूलतत्त्वोके सम्वन्धमे यहाँ विशेष कहने योग्य स्थान नही है।

शिक्षापाठ ६१ : सुखके सम्बन्धमे विचार—भाग १

एक ब्राह्मण दरिद्रावस्थाके कारण वहुत दुखी था। उसने ऊबकर अन्तमे देवकी उपासना करके लक्ष्मी प्राप्त करनेका निश्चय किया। क्योकि वह विद्वान् था इसलिये उसने उपासना करनेसे पूर्व विचार किया कि कभी न कभी कोई देव तो सन्तुष्ट होगा ही, तव फिर

उससे कौन-सा सुख माँगना चाहिए ? तपस्या करनेके [illegible] मॉगनेकी बात न सूझे, अथवा न्यूनाधिक सूझे तो किया हुआ तप ही निरर्थक हो जायेगा, इसलिए एक बार समस्त देशमे प्रवास करना चाहिए। ससारके महापुरुषोके धाम, वैभव और सुख देखना चाहिए। ऐसा निश्चय करके वह प्रवासके लिए निकल पडा। भारतमे जो-जो रमणीय और ऋद्धियुक्त नगर थे उन्हे उसने देखा। युक्ति-प्रयुक्तियोंसे राजा-महाराजाओंके अन्त पुर, सुख और वैभव देखे। श्रीमानोके भवन, कारोबार, बाग-बगीचे और कुटुम्ब-परिवार देखे। किन्तु इससे उसका मन किसी भी तरहसे तुष्ट नही हुआ। उसने देखा कि किसीको स्त्रीका दु ख है, किसीको पतिका दु ख है, किसीको अज्ञानसे दु ख है, किसीको इष्ट वियोगका दु ख है, किसीको निर्धनताका दु ख है, किसीको लक्ष्मीकी उपाधिका दु.ख है, किसीको शरीर सम्बन्धी दु ख है, किसीको पुत्रका दु ख है, किसीको शत्रुका दु ख है, किसीको जडताका दु ख है, किसीको माँ-बापका दु'ख है, किसीको वैधव्यका दु ख है, किसीको कुटुम्बका दु ख है, किसीको अपने नीच कुलका दु ख है, किसीको प्रीतिका दु ख है, किसीको ईर्ष्याका दु ख है, किसीको हानिका दु ख है, इस प्रकार एक, दो, अधिक अथवा सभी दु ख जगह-जगह पर उस ब्राह्मणको दिखाई दिये। इसलिए उसका मन किसी भी स्थान पर नही माना। उसने जहाँ देखा वहाँ दु ख तो था ही। किसी भी स्थान पर उसे सम्पूर्ण सुख दिखाई नही दिया। तब फिर क्या माँगना चाहिए? ऐसा विचार करते-करते वह एक महान् धनिककी प्रशसा सुनकर वह द्वारिकामे आया। उसे द्वारिका महाऋद्धिसम्पन्न, वैभवयुक्त, बाग-बगीचोसे सुशोभित और नर-नारियोसे हराभरा नगर मालूम हुआ। सुन्दर और भव्य भवनोको देखता हुआ और पूछता-पूछता वह उस महान् धनिकके घर पहुँचा। वह धनाढ्य अपने मुखगृहमे बैठा हुआ था। उसने अतिथि समझकर ब्राह्मणका सम्मान किया,

कुशलता पूछी और उसके लिए भोजनकी व्यवस्था कराई। थोडी देरके वाद सेठने धीरजके साथ ब्राह्मणसे पूछा कि यदि आपको अपने आगमनका कारण मुझे कहनेमे कोई आपत्ति न हो तो कहिए। ब्राह्मणने कहा कि अभी आप क्षमा कीजिए, पहले आपको अपना समस्त प्रकारका वैभव, भवन, वाग-वगीचा इत्यादि मुझे दिखाने होगे। उन्हे देखनेके बाद मै अपने आगमनका कारण बतलाऊँगा। सेठने इसका कोई मर्मरूप कारण जानकर कहा कि भले ही आप आनन्दपूर्वक अपनी इच्छानुसार करे। भोजनके बाद ब्राह्मणने सेठको अपने साथ चलकर धामादि बतलानेकी प्रार्थना की। सेठने उसकी बातको मान लिया और स्वय उसके साथ जाकर बाग-बगीचा, भवन और वैभव यह सब दिखाया। ब्राह्मणको सेठकी स्त्री और पुत्र भी वहाँ दिखाई दिए। उन्होने योग्यता अनुसार उस ब्राह्मणका आदर-सत्कार किया। उनके रूप, विनय, स्वच्छता और मधुर वाणी को सुनकर वह ब्राह्मण बहुत सन्तुष्ट हुआ। उसके बाद उसने धनिककी दुकानका कारोबार देखा और वहाँ लगभग सौ कार्यकर्ताओको वहाँ बैठा हुआ देखा। ब्राह्मणको वे भी स्नेही, विनयी और नम्र मालूम हुए, इससे वह वहुत सन्तुष्ट हुआ। और उसका मन वहाँ कुछ तृप्त हुआ। और उसे ऐसा लगा कि इस ससारमे सुखी तो यही मालूम होता है।

शिक्षापाठ ६२ : सुखके सम्बन्धमे विचार—भाग २

वह ब्राह्मण विचार करने लगा कि इसके कैसे सुन्दर भवन हैं, इनकी स्वच्छता और व्यवस्था कैसी सुन्दर है, इसकी कैसी चतुर मनोज्ञ और सुशील स्त्री है, उसके कैसे कान्तिमान और आज्ञाकारी पुत्र हैं, इसका कैसा हिलमिलकर रहनेवाला कुटुम्ब है, इसके यहाँ लक्ष्मीकी कैसी कृपा है, समस्त भारतमे इस जैसा दूसरा कोई सुखी नही है। अव तपस्या करके यदि मैं कुछ माँगूँगा तो इस धनिक

जैसा ही सब कुछ माँगूँगा, इसके अतिरिक्त और दूसरी कोई इच्छा नही करूँगा।

दिन व्यतीत हो गया और रात्रि हुई। सोनेका समय आ गया। वह धनाढ्य और ब्राह्मण एकान्तमे बैठे हुए थे। धनाढ्यने ब्राह्मणसे अपने आगमनका कारण कहनेकी प्रार्थना की।

विप्रने कहा कि मै घरसे ऐसा विचार करके निकला था कि सबसे अधिक सुखी कौन है यह देखा जाय। और फिर तप करनेके बाद इसके समान ही सुख सम्पादन करूँ। मैने समस्त भारत और उसके सभी रमणीय स्थलोको देखा किन्तु मुझे किसी राजाधिराजके घर भी सम्पूर्ण सुख नही दिखाई दिया। जहाँ देखा वहाँ आधि, व्याधि और उपाधि ही दिखाई दी। इस ओर आते हुए मैने आपकी प्रसशा सुनी इसलिए मै इस ओर चला आया और मुझे सन्तोष भी हुआ। आपके जैसी ऋद्धि, सत्पुत्र, कमाई, स्त्री, कुटुम्ब, घर इत्यादि मेरे देखनेमे अन्यत्र कही नही आए। आप स्वय भी धर्मशील, सद्‌गुणी और जिनेश्वरके उत्तम उपासक है। इसलिए मै ऐसा मानता हूँ कि आपके जैसा सुख अन्यत्र नही है। भारतमे आप विशेष सुखी हैं। उपासना करके यदि कभी मै देवसे याचना करूँगा तो आपके जैसी ही सुख-स्थिति माँगूँगा।

धनाढ्यने कहा कि—पडित जी! आप एक बडे मर्म-भरे विचारसे निकले हैं, इसलिए आपसे मै अपने अनुभवकी बात ज्यो-की-त्यो कह रहा हूँ, फिर आपकी जैसी इच्छा हो वैसा करे। आपने मेरे यहाँ जो-जो सुख-दु ख देखे वे सुख भारत भरमे कही भी नही हैं, ऐसा आप कहते हैं सो भले ही वैसा होगा, किन्तु मुझे यह सही सम्भव मालूम नही होता। मेरा सिद्धान्त तो यह है कि जगत्‌मे किसी भी जगह वास्तविक सुख नही है, प्रत्युत् सारा ससार दु खसे जल रहा है। आप मुझे सुखी देख रहे है किन्तु यथार्थमे मै सुखी नही हूँ।

विप्रने कहा—आपका यह कथन अनुभवसिद्ध और मार्मिक होगा। मैंने अनेक शास्त्र देखे है, फिर भी ऐसे मर्म-भरे विचार ध्यानमे लेनेका मैंने परिश्रम ही नही किया और मुझे ऐसा अनुभव सबके लिए होकर भी नही हुआ। अब आप मुझे यह बतलाइये कि आपको क्या दु ख है ?

धनाढ्यने कहा—पडितजी ! आपकी इच्छा है तो मैं कहता हूँ। वह ध्यानपूर्वक मनन करने योग्य है और इस परसे कोई मार्ग प्राप्त किया जा सकता है।

शिक्षापाठ ६३ : सुखके सम्बन्धमे विचार—भाग ३

आप जैसी स्थिति इस समय मेरी देख रहे हैं वैसी स्थिति लक्ष्मी, कुटुम्ब और स्त्रीके सम्बन्धमे पहले भी थी। मै जिस समयकी बात कह रहा हूँ उस समयको लगभग बीस वर्ष हो चुके हैं। व्यापार और वैभवकी बहुलता आदि समस्त कारोबार उल्टा होनेसे घटने लगा। करोडपति कहलाता था वह मैं एकके बाद एक हानिका भार वहन करनेसे मात्र तीन वर्षमे ही लक्ष्मी-हीन हो गया। जहाँ मात्र अनुकूल समझकर दाव लगाया था वहाँ उल्टा दाव पडा। ऐसेमे मेरी स्त्री भी मरणको प्राप्त हुई। उस समय मेरे कोई सन्तान नही थी। बहुत बडी हानियोके कारण मुझे यहाँसे निकल भागना पडा। यद्यपि मेरे कुटुम्बियोंने यथाशक्ति मेरी रक्षा की, किन्तु वह आकाश फटने पर थेगरा लगाने जैसी बात थी। मेरी स्थिति अन्न और दाँतके बीच वैर होने जैसी थी। इसलिए मैं बहुत आगे चला गया। जब मैं वहाँसे निकला तब मेरे कुटुम्बियोने मुझे रोक रखनेका प्रयत्न किया और कहा कि तूने गाँवके बाहरका द्वार तक नही देखा इसलिए हम तुझे बाहर नही जाने देगे। तेरा सुकोमल शरीर कुछ भी नही कर सकेगा, और यदि तू बाहर चला गया और वहाँ सुखी हुआ तो फिर यहाँ लौटकर भी नही आयेगा, इसलिए तुझे

यह विचार छोड देना चाहिए। मैने उन्हे विविध प्रकारसे समझाया कि मै यदि अच्छी स्थितिको प्राप्त होऊँगा तो अवश्य ही लौटकर वापिस आ जाऊँगा, ऐसा वचन देकर मै जावा बन्दरगाहके प्रवासके लिए निकल पडा।

भाग्यके पीछे लौटनेकी तैयारी हुई, दैवयोगसे मेरे पास एक कानी कौडी शेष नही रह गई थी। मेरे पास एकाध महीने उदर-पोषण करनेका कोई साधन नही था तथापि मै जावाको चला गया। वहाँ मेरी बुद्धिने भाग्यको विकसित कर दिया। मै जिस जहाजमें बैठा था उस जहाजके नाविकने मेरी चचलता और नम्रताको देख कर अपने मालिकसे मेरे दु खकी बात कही। उसे सुनकर मालिकने मुझे बुलाया और मुझे एक काममे लगा दिया। उसमे मै अपने भरण-पोषणसे भी चौगुना पैदा करने लगा। जब मेरा मन उस व्यापारमे स्थिर हो गया तब मैने भारतके साथ उस व्यापारको बढानेका प्रयत्न किया, और मुझे उसमे सफलता मिली। मात्र दो वर्षमें मैंने पाँच लाख रुपयेकी कमाई कर ली। पश्चात् उस जहाज-के मालिकसे राजी-खुशीके साथ आज्ञा लेकर और कुछ माल खरीद-कर मैं द्वारिकाकी ओर चल दिया। कुछ समयके बाद जब मैं वहाँ पहुँचा तब बहुतसे लोग मेरा स्वागत-सत्कार करनेके लिए वहाँ आ पहुँचे। मैं अपने कुटुम्बियोंसे आनन्द-उल्लासपूर्वक जाकर मिला। वे मेरे भाग्यकी प्रशसा करने लगे। जावासे लाये हुए मालने मुझे एकके पाँच करा दिये। पडित जी! मुझे वहाँ अनेक प्रकारके पाप करने पडते थे, मुझे वहाँ पेट भर खानेको भी नही मिलता था। किन्तु एक बार लक्ष्मीको सिद्ध करनेकी जो प्रतिज्ञा मैंने की थी भाग्य-योगसे पूर्ण हुई। मै जिस दु खदायक स्थितिमे था उस स्थितिमें दु खकी क्या कमी थी? एक तो स्त्री-पुत्र आदिक थे ही नही, उधर माँ-बाप पहले हीसे परलोक सिधार चुके थे। कुटुम्बियोके वियोगसे और

विना दमडीके जिस समय मैं जावा गया था उस समयकी स्थितिको अज्ञान दृष्टिसे देखने पर आँखोमे आँसू ला देती है। मैंने उस समय भी धर्ममे आस्था रखी थी। मैं दिनका कुछ भाग उसमे लगाता था, वह लक्ष्मी या ऐसी किसी लालचसे नही किन्तु मेरी यह मुख्य नीति थी कि यह ससारके दु खसे पार लगाने वाला एक साधन है तथा मैं यह मानता था कि मौतका भय क्षणभरको भी दूर नही है, इसलिए इस कर्तव्यको जैसे वने वैसे कर लेना चाहिए। मैंने इस तत्त्वकी ओर भी अपना लक्ष्य दिया कि दुराचारसे कही कोई सुख नही मिल सकता, मनकी तृप्ति नही हो सकती, वह मात्र आत्माकी मलिनता है।

शिक्षापाठ ६४ : सुखके सम्बन्धमे विचार—भाग ४

यहाँ आनेके वाद मुझे अच्छे घरकी अनुकूल कन्या प्राप्त हुई। और वह अच्छे लक्षण वाली तथा मर्यादाशील निकली। उससे तीन पुत्र प्राप्त हुए। मेरा कारोवार वहुत प्रवल था और पैसा पैसे-को खीचता है इस नीतिके अनुसार मैं दस वर्षमे ही एक वहुत वडा करोडपति हो गया। मैंने पुत्रोकी नीति, विचार और वुद्धिको उत्तम रखनेके लिए अनेक सुन्दर साधन जुटाये, जिससे उन्होने यह स्थिति प्राप्त की है। मैंने अपने कुटुम्वियोको यथायोग्य स्थानो पर जमा कर उनकी स्थितिको सुधारा। मैंने अपनी दुकानके कुछ सुनियोजित नियम वनाये और उत्तम मकान वनवाने प्रारम्भ किये। यह मात्र एक ममतावश ही किया। मैंने अपना विगत सव कुछ प्राप्त कर लिया और अपनी कुल परम्पराके नामको जाते हुए पुन रोक लिया। मैंने यह सव ऐसा कहलवानेके लिए ही किया था। मैं इसे सुख नही मानता। यद्यपि मैं दूसरोकी अपेक्षा सुखी हूँ, फिर भी यह असातावेदनीय है, सच्चा सुख नही। जगतमे वहुधा असातावेदनीय विद्यमान है। मैंने धर्ममे अपना समय व्यतीत करनेका नियम वनाया

है। सत्शास्त्रोका पठन-पाठन और मनन, सत्पुरुषोका समागम, यम-नियम, प्रतिमास बारह दिनका ब्रह्मचर्य, यथाशक्ति गुप्तदान, इत्यादि धर्म रूपसे मै अपना समय व्यतीत करता हूँ। समस्त व्यवहार सम्बन्धी उपाधियोमेसे कितना ही भाग अधिकतया मैने त्याग दिया है। अब मै अपने पुत्रोको व्यवहारमे यथायोग्य बनाकर निर्ग्रथ होनेकी इच्छा रखता हूँ। मै अभी निर्ग्रन्थ हो सकूँ ऐसी बात नही है, इसमे ससार-मोहिनी अथवा ऐसा ही कोई दूसरा कारण नही है प्रत्युत् वह भी धर्मसम्बन्धी ही कारण है। गृहस्थ धर्मके आचरण-बहुत निकृष्ट हो गये है और मुनि लोग उन्हे सुधार नही सकते। गृहस्थ गृहस्थको विशेष रूपसे उपदेश कर सकता है, अपने आचरण-से भी उन पर प्रभाव डाल सकता है, मात्र इसलिए मै धर्मके सम्बन्धमे गृहस्थ वर्गको बहुधा बोध देकर यम-नियममे लगाता हूँ। हमारे यहाँ प्रति सप्ताह प्राय पाँच सौ सद्गृहस्थोकी सभा भरती है। मै उन्हे आठ दिनका नया अनुभव और शेष पिछला धर्मानुभव दो-तीन मुहूर्तमे उपदेशित करता हूँ। मेरी स्त्री धर्मशास्त्रके सम्बन्धमें कुछ जानती है। इसलिए वह भी स्त्री-वर्गको उत्तमोत्तम यम-नियम-का उपदेश देकर साप्ताहिक सभा करती है। मेरे पुत्रोको भी शास्त्रो-का यथाशक्य परिचय है। मेरे अनुचर भी विद्वानोका सम्मान, अतिथि-सम्मान, विनय और सामान्य सत्यता तथा एक ही भाव—ऐसे नियम प्राय पालन करते हैं। यही कारण है कि वे सब साता-का भोग कर सकते है। लक्ष्मीके साथ ही मेरी नीति, धर्म, सद्गुण और विनयने जनसमुदाय पर बहुत अच्छा प्रभाव डाला है। अब ऐसी स्थिति है कि राजा तक भी मेरी नैतिक बातको स्वीकार करता है। आपको यह ध्यान रखना चाहिए कि मै यह सब आत्मप्रशसाके लिए नही कह रहा हूँ किन्तु आपके द्वारा पूछी गई बातका स्पष्टी-करण करनेके लिए यह सब सक्षेपमे कह रहा हूँ।

शिक्षापाठ ६५ : सुखके सम्बन्धमे विचार—भाग ५

इन सब बातो परसे आपको ऐसा लगेगा कि मैं सुखी हूँ। और सामान्य विचारसे यदि मुझे बहुत सुखी मानो तो माना जा सकता है। मुझे धर्म, शील और नीतिसे तथा शास्त्रावधानसे जो आनन्द उत्पन्न होता है वह अवर्णनीय है। किन्तु तत्त्वदृष्टिसे मैं सुखी नहीं माना जा सकता। जबतक मैंने बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहका सब प्रकारसे त्याग नही किया तबतक राग-द्वेषका भाव विद्यमान है। यद्यपि वह बहुत अशमे नही है, परन्तु है अवश्य, इसलिए वहाँ जजाल भी है। सम्पूर्ण परिग्रहका त्याग करनेकी मेरी सम्पूर्ण आकाक्षा है, किन्तु जबतक ऐसा नही हुआ तबतक किसी माने गये प्रियजनका वियोग, व्यवहारमे हानि और कुटुम्बियोका दुख, यह सब थोडे अशमे भी पीडा दे सकते हैं। अपने शरीरमे मृत्युके अतिरिक्त भी विविधप्रकारके रोगोका होना सम्भव है, इसलिए मात्र निर्ग्रन्थ बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग और अल्पारम्भका त्याग नही हुआ तबतक मैं अपनेको सुखी नही मानता। अब आपको तत्त्व-दृष्टिसे विचार करनेपर मालूम होगा कि लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र अथवा कुटुम्ब इत्यादिसे सुख नही होता। और यदि इन्हे सुख माना जाय तो जब मेरी स्थिति गिर गई थी तब यह सुख कहाँ गया था ? जिसका वियोग होता है, जो क्षणभगुर है और जहाँ एकत्व अथवा अव्याबाधत्व नही है वहाँ सम्पूर्ण सुख नही है। इसी लिए मैं अपनेको सुखी नही कह सकता। मैं बहुत विचार कर-करके व्यापार और कारोबार करता था, तथापि ऐसा नही है कि मुझे आरम्भोपाधि, अनीति और किंचित्-मात्र भी कपटका सेवन नही ही करना पडा। मुझे अनेक प्रकारके आरम्भ और कपटका सेवन करना पडा था।

आप यह समझते हो कि देवोपासनासे लक्ष्मी प्राप्त हो जायेगी, किन्तु यदि पुण्य नही होगा तो वह कदापि मिलने वाली नही हैं। पुण्यसे

लक्ष्मीको प्राप्त करके महान् आरम्भ, कपट और मान-प्रतिष्ठाको बढाना इत्यादि महापापके कारण है। पाप नरकमे डालता है, पापसे आत्मा प्राप्त किये हुए महान् मानव-देहको खो देता है। एक तो मानो पुण्यको खा जाना और ऊपरसे पापका बन्ध करना। लक्ष्मीकी और उसके द्वारा समस्त ससारकी उपाधिको भोगना इत्यादि विवेकी आत्माको मान्य नही हो सकती, ऐसी मेरी धारणा है। मैने जिस कारणसे लक्ष्मीका उपार्जन किया था वह कारण मै पहले आपको बतला चुका हूँ। अब जैसी आपकी इच्छा हो वैसा कीजिए। आप विद्वान् है और मै विद्वानोको चाहता हूँ। यदि आपकी इच्छा हो तो धर्म-ध्यानमे सलग्न होकर सकुटुम्ब यही भले ही रहो। आपकी आजीविकाकी सरल योजना जैसे आप कहे वैसे मै रुचिपूर्वक करा दूँ। यहाँ पर शास्त्राध्ययन और सत् वस्तुका उपदेश करें। मै समझता हूँ कि मिथ्यारम्भोपाधिकी लोलुपतामे आप न पडे तथापि आपकी जैसी इच्छा हो वैसा कीजिए।

पण्डित—आपने अपने अनुभवकी बहुत मनन करने योग्य आख्यायिका कही है। सचमुच ही आप कोई महात्मा है, पुण्यानुबधी पुण्यवान् जीव है, विवेकी है, आपकी शक्ति अद्भुत है। मै दरिद्रतासे तग आकर जो इच्छा करता था वह ऐकान्तिक थी। मैने ऐसे सर्वप्रकारसे विवेकपूर्ण विचार नही किये थे। मै चाहे जितना विद्वान् हूँ, किन्तु मुझमे ऐसा अनुभव और ऐसी विवेक शक्ति नही है। मै यह सच ही कह रहा हूँ। आपने मेरे लिए जो योजना बतलायी है, उसके लिए मैं आपका बहुत आभारी हूँ। और उसे नम्रतापूर्वक स्वीकार करनेके लिए मै अपना हर्ष व्यक्त करता हूँ। मै उपाधि नही चाहता। लक्ष्मीका फदा उपाधि ही देता है। आपका अनुभवसिद्ध कथन मुझे बहुत रुचिकर प्रतीत हुआ है। ससार मानो धधक रहा है, उसमे सुख नही है। आपने जो उपाधि रहित मुनि-सुखकी प्रशसा की है वह सत्य है। वह सन्मार्ग परिणामत सर्वोपाधि, आधि-

जिन्होंने सर्व घनघाति कर्मोंका क्षय किया है, जिनके चार कर्म क्षीण हो चले हैं, जो मुक्त है, जो अनतज्ञानी और अनन्तदर्शी हैं वे तो सम्पूर्ण सुखी ही है। वे मोक्षमें अनन्त जीवनके अनन्त सुखमें सर्व कर्म-विरक्ततासे विराजमान है।

इस प्रकार सत्पुरुषोंके द्वारा कहा हुआ मत मुझे मान्य है। पहला तो मुझे त्याज्य है और दूसरा अभी तत्काल ही मान्य है तथा अधिकाशतया इसे ग्रहण करनेका मेरा भाव है। तीसरा बहु-मान्य है और चौथा तो सर्वमान्य तथा सच्चिदानन्द स्वरूप है।

इस प्रकार पडितजी! आपकी और मेरी सुख सम्बन्धी बातचीत हुई। आगे भी यथाप्रसग इस बातकी चर्चा करते रहेंगे उस पर विचार करेंगे। आपसे यह विचार कहनेसे मुझे बहुत आनन्द हुआ है और आप उन विचारोके अनुकूल हुए है इसलिये आनन्दमे और वृद्धि हुई है। इस प्रकार परस्पर बातचीत करते करते हर्ष-विभोर होनेके बाद वे समाधिभावसे शयनको प्राप्त हुए।

जो विवेकी लोग इस प्रकार सुख सम्बन्धी विचार करेंगे वे बहु-तत्त्व और आत्मश्रेणिकी उत्कृष्टताको प्राप्त होंगे। इसमे कहे गये अल्पारम्भी, निरारम्भी और सर्वमुक्त लक्षण लक्षपूर्वक मनन करने योग्य हैं। जैसे बने वैसे अल्पारम्भी होकर समभावसे जन-समुदायके हितकी ओर मुडना चाहिये। परोपकार, दया, शान्ति, क्षमा और पवित्रताका सेवन करना अत्यन्त सुखदायक है। निर्ग्रंथताके सम्बन्धमे तो विशेष कुछ कहनेकी बात है ही नही। मुक्तात्मा तो अनन्त सुखमय ही है।

६७ अमूल्य तत्त्वविचार

(हरिगीत छद)

बहु पुण्यकेरा पुंजथी शुभदेह मानवनो मळ्यो;
तोये अरे! भवचक्रनो आंटो नहि एक्के टळ्यो;

सुख प्राप्त करतां सुख सुख टळे छे लेश ए लक्षे लहो;
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो राची रहो? ॥ १ ॥

लक्ष्मी अने अधिकार वधता, शुं वध्युं ते तो कहो ?
शुं कुटुम्ब के परिवारथी वधवापणु, ए नय ग्रहो;
वधवापणुं संसारनुं नर देहने हारी जवो
ऐनो विचार नहीं अहो हो ! एक पळ तमने हवो !! ॥ २ ॥

निर्दोष सुख निर्दोष आनन्द, ल्यो गमे त्यांथी भले,
ए दिव्य शक्तिमान जेथी जंजीरेथी नीकळे;
परवस्तुमां नहि मूंझवो, एनी दया मुजने रही,
ए त्यागवा सिद्धान्त के पश्चात् दुःख ते सुख नहीं ॥ ३ ॥

हुँ कोण छु· क्याथी थयो ? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं ?
कोना संबधे वळगणा छे ? राखु के ए परिहरुं ?
एना विचार विवेकपूर्वक शान्त भावे जो कर्या,
तो सर्व आत्मिक ज्ञानना सिद्धान्त तत्त्व अनुभव्यां ॥ ४ ॥

ते प्राप्त करवा वचन कोनुं सत्य केवळ मानवुं ?
निर्दोष नरनुं कथन मानो, 'तेह' जेणे अनुभव्युं;
रे ! आत्म तारो ! आत्म तारो ! शीघ्र एने ओळखो,
सर्वात्ममां समदृष्टि द्यो आ वचनने हृदये लखो ॥ ५ ॥

वहुत पुण्यके पुजसे इस शुभ मानवदेहकी प्राप्ति हुई है, तथापि अरे रे ! भवचक्रका एक भी चक्कर दूर नही हो पाया। तनिक इस वात पर तो ध्यान दो कि सुखको प्राप्त करनेसे सुख दूर होता है। अहो इस क्षण क्षणमे होनेवाले भयकर भावमरणमे तुम क्यो रच-पच रहे हो ? ॥ १ ॥

यदि तुम्हारी लक्ष्मी और अधिकार वढ गये तो वतलाओ तो सही कि इसमे तुम्हारा क्या वढ गया ? कुटुम्व और परिवारके वढने-

से तुम्हारी कौनसी बढती है ? इस रहस्यको समझो । क्योकि ससार-का बढना मानो मानव-देहको हार जाना है । अरे ! तुम्हे इस बात-का विचार एक क्षण भरको भी नही हुआ ? ॥ २ ॥

निर्दोष सुख और निर्दोष आनन्द जहाँसे भी मिल सके वहाँसे प्राप्त करो जिससे कि यह दिव्य शक्तिमान आत्मा बन्धनोसे मुक्त हो सके । परवस्तुमे लीन होकर आत्माको आकुलित नही करना, इसकी दया मुझे सदा रही है । जिसके अन्तमे दु:ख है उसे सुख कहना यह त्यागने योग्य सिद्धान्त है ॥ ३ ॥

मै कौन हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? मेरा सच्चा स्वरूप क्या है ? मै किसके सम्बन्धसे फँसा हुआ हूँ ? मै इसे रक्खूँ अथवा छोड़ दूँ ? यदि विवेकपूर्वक और शान्तभावसे इन बातो पर विचार किया गया तो आत्मज्ञानके सभी सिद्धान्त-तत्त्व अनुभवमे आ जायेगे ॥ ४ ॥

इसे प्राप्त करनेके लिए मात्र किसके वचनको सत्य मानना चाहिए ? जिसने इसका अनुभव किया है ऐसे निर्दोष पुरुषका कथन मानना चाहिए । अरे ! आत्माको तारो ! उसे शीघ्र ही पहचानो तथा सभी आत्माओमे समदृष्टि रखो, इस वचनको हृदयमें अकित करो ॥ ५ ॥

शिक्षापाठ : ६८ जितेन्द्रियता

जबतक जीभ स्वादिष्ट भोजन चाहती है, जबतक नासिका सुगध चाहती है, जब तक कान वारागनाके गीत और वादित्र चाहते है, जव तक आँखे वनोपवन आदिको देखनेका लक्ष्य रखती है, जब तक त्वचा सुगन्धी-लेपन चाहती है तब तक मनुष्य वीतरागी, निर्ग्रंथ, अपरिग्रही, निरारम्भी और ब्रह्मचारी नही हो सकता । मनको वश-मे करना सर्वोत्तम है । इसके द्वारा समस्त इन्द्रियोको वशमे किया जा सकता है । मनको जीतना अत्यत कठिन है । मन एक समयमें असंख्यात योजन चलनेवाला एक प्रकारका अश्व है । इसको थकित

करना बहुत दुर्लभ है। इसकी गति अत्यन्त चपल और पकड़मे नही आ सकने वाली है। महाज्ञानियोने ज्ञानरूपी लगाम लगाकर इसे स्तम्भित करके सब पर विजय प्राप्त की है।

उत्तराध्ययनसूत्रमे महर्षि नमिराजने शक्रेन्द्रसे ऐसा कहा है कि दस लाख सुभटोको जीतने वाले बहुतसे पडे है किन्तु अपनी आत्माको जीतनेवाले बहुत ही दुर्लभ हैं। और जिन्होने निज आत्मा पर विजय प्राप्त की है वे दस लाख सुभटोको जीतने वालेकी अपेक्षा अति उत्तम है।

मन ही सर्वोपाधिकी जन्मदात्री भूमिका है। मन ही बन्ध और मोक्षका कारण है। मन ही समस्त ससारकी मोहनी रूप है इसके वशमे हो जानेपर आत्मस्वरूपको प्राप्त करना किंचित् मात्र भी दुर्लभ नही है।

मनसे ही इन्द्रियोकी लोलुपता है। भोजन, वादित्र, सुगन्धी, स्त्रियोका निरीक्षण, सुन्दर विलेपन आदि समस्त मन ही माँगता है, इस मोहनीके आडे आने पर वह धर्मको याद तक नही करने देता। और यदि याद आ भी जाये तो सावधान नही होने देता और सावधान होनेके बाद पतित करनेमे प्रवृत्त हो जाता है—लग जाता है। और जब वह इसमे सफल नही होता तो सावधानीमे कोई न कोई न्यूनता पहुँचाता है। जो इस न्यूनताको भी प्राप्त न होकर अडिग रहकर मनको जीत लेते हैं वे सर्वसिद्धिको प्राप्त होते हैं।

मनको अकस्मात् कोई ही जीत सकता है। नही तो यह गृहस्थाश्रममे अभ्यास करके ही जीता जाता है। निर्ग्रंथतामे यह अभ्यास बहुत हो सकता हैं, तथापि यदि कोई सामान्य परिचय करना चाहे तो उसका मुख्य मार्ग यह है कि मन जो दुरिच्छा करे उसे भूल जाये और वैसा न करे। वह जब शब्द, स्पर्श आदि विलासकी इच्छा करे तब उसे वह न दे। सक्षेपमे, हमे इसके वशीभूत नही

होना चाहिए किन्तु उसे अपने वशमें करना चाहिए, और वह भी मोक्षमार्गमे। जितेन्द्रियताके बिना समस्त प्रकारकी उपाधियाँ खडी ही रहती हैं और त्याग भी अत्याग जैसा हो जाता है, लोक लज्जा-के कारण उसका सेवन करना पडता है, इसलिए अभ्यासके द्वारा भी मनको जीतकर स्वाधीनतामे ले जाकर अवश्यमेव आत्महित कर लेना चाहिये।

शिक्षापाठ ६९ : ब्रह्मचर्यकी नौ बाड़ें

ज्ञानियोने थोडे शब्दोमे कैसे भेद और उनका कैसा स्वरूप बताया है? इसके द्वारा कितनी अधिक आत्मोन्नति होती है? ब्रह्म-चर्य जैसे गम्भीर विषयका स्वरूप सक्षेपमे अति चमत्कारी ढगसे बताया है। ब्रह्मचर्यरूपी एक सुन्दर वृक्ष और उसकी रक्षा करने वाली जो नौ विधियाँ है उसे बाडका रूप देकर ऐसी सरलता कर दी है कि आचारके पालनमे विशेष स्मृति रह सके। इन नौ बाडो-को ज्योका त्यो यहाँ कह रहा हूँ।

१. **वसति**—ब्रह्मचारी साधुको वहाँ नही रहना चाहिए जहाँ स्त्री, पशु अथवा नपुसकका निवास हो। स्त्रियाँ दो प्रकार की है—मनुष्यनी और देवागना। इनमेसे प्रत्येकके दो दो भेद है। एक तो मूल और दूसरे स्त्रीकी मूर्त्ति अथवा चित्र। इनमेंसे किसी भी प्रकारकी स्त्रीका जहाँ वास हो वहाँ ब्रह्मचारी साधुको नही रहना चाहिए। पशु अर्थात् तिर्यंचनी—गाय, भैस, इत्यादि जिस स्थानमे हो उस स्थानमें नही रहना चाहिए। और पडग अर्थात् नपुसकका जहाँ वास हो वहाँ नही रहना चाहिए। इस प्रकारका निवास ब्रह्मचर्यकी हानि करता है। उनकी कामचेष्टा, हावभाव इत्यादि विकार मनको भ्रष्ट करते है।

२ **कथा**—मात्र अकेली स्त्रियोको ही अथवा एक ही स्त्रीको ब्रह्मचारीको धर्मोपदेश नही देना चाहिए। कथा मोहकी उत्पत्तिरूप

है। क्योंकि रूप सम्बन्धी ग्रन्थ और काम-विलास सम्बन्धी ग्रन्थ ब्रह्म-चारीको नहीं पढ़ना चाहिए। तथा जिसमे चित्त चलायमान हो ऐसी किसी भी प्रकारकी शृगार सम्बन्धी कथा ब्रह्मचारीको नही करना चाहिए।

३. आसन—स्त्रियोंके साथ एक आसन पर नही बैठना चाहिए। जहा स्त्री बैठी हो उस स्थान पर दो घडी तक ब्रह्मचारीको नही बैठना चाहिए। भगवानने कहा है कि यह स्त्रियोकी स्मृतिका कारण है और उससे विकारकी उत्पत्ति होती है।

४ इन्द्रियनिरीक्षण—ब्रह्मचारी साधुको स्त्रियोके अगोपाग नही देखना चाहिए, क्योकि इनके किसी अग विशेष पर एकाग्र दृष्टि होनेसे विकारकी उत्पत्ति होती है।

५ कुड्यान्तर—दीवाल, कनात अथवा टाटका अन्तरपट बीचमे जहा हो और वहा स्त्री-पुरुष मैथुन सेवन करते हो तो वहा ब्रह्मचारीको नही रहना चाहिए, क्योकि शब्द, चेष्टा इत्यादिक विकारके कारण होते है।

६. पूर्वक्रीडा—स्वय गृहस्थावस्थामे रहकर किसी भी प्रकारकी शृगार भरी विषयक्रीडाकी हो तो उसे याद नही करना चाहिए, क्योकि ऐसा करनेसे ब्रह्मचर्य भग होता है।

७. प्रणीत—दूध, दही, घृत आदि मधुर और सचिक्कण पदार्थोंका प्राय. आहार नही करना चाहिए। क्योकि इनसे वीर्यकी वृद्धि और उन्माद उत्पन्न होता है तथा इनसे कामकी उत्पत्ति होती है। इसलिये ब्रह्मचारीको इनका सेवन नही करना चाहिए।

८ अतिमात्राहार—खूब पेट भरकर आहार नही करना चाहिए तथा जिससे अति मात्राकी उत्पत्ति हो ऐसा नही करना चाहिए इससे भी विकारकी वृद्धि होती है।

९. **विभूषण**—स्नान, विलेपन तथा पुष्प आदिका ग्रहण ब्रह्मचारीको नही करना चाहिए इससे ब्रह्मचर्यकी हानि होती है।

इस प्रकार भगवानने विशुद्ध ब्रह्मचर्यके लिए नौ बाडें कही है, प्राय· तुम्हारे सुननेमे भी यह आई होगी तथापि गृहस्थावस्थामे अमुक अमुक दिन ब्रह्मचर्य धारण करनेमें अभ्यासियोको लक्ष्यमें रखनेके लिए यहाँ कुछ समझाकर कहा गया है।

शिक्षापाठ ७० : सनत्कुमार—भाग १

चक्रवर्तीके वैभवमें क्या कमी होती है ? सनत्कुमार चक्रवर्ती थे। उनका वर्ण और रूप अति उत्तम था। एक बार सुधर्म-सभामे उनके रूप-सौन्दर्यकी प्रशसा हुई। किन्ही दो देवोको वह बात रुचिकर प्रतीत नही हुई। पश्चात् वे उस शकाके निवारणके लिए विप्ररूप धारण कर सनत्कुमारके अन्त पुरमे पहुँचे। उस समय सनत्कुमारके शरीरमें उबटन लगा हुआ था और अग-मर्दनादिक पदार्थोंका विलेपन किया हुआ था। उनने मात्र एक अगोछी (पंचा) पहन रखी थी। और वे स्नान-मज्जन करनेके लिए बैठे थे। विप्ररूपमे आये हुये वे देव उनका मनोहर-मुख, कचन-वर्णी काया और चन्द्रमा जैसी कान्ति देखकर अति आनन्दित हुए और उन्होंने अपना सिर हिलाया। तब चक्रवर्तीने पूछा कि—तुमने सिर क्यो हिलाया है ? देवोने कहा—हम आपके रग-रूपका निरीक्षण करनेके लिए बहुत लालायित थे, हमने स्थान-स्थान पर आपके रंग-रूपकी प्रशसा सुनी थी, आज हमने उसे प्रत्यक्ष देखा है, जिससे हमारे मनमें सम्पूर्ण आनन्द प्राप्त हुआ है। सिर हिलानेका कारण यह है कि जैसा लोगोंमें कहा जाता है वैसा ही नही, किन्तु उससे भी विशेष रूप है, कम नही है।

तब सनत्कुमार अपने सौन्दर्यकी स्तुतिसे गौरवान्वित होकर

अपने मुँहमे चबाये हुये पानको थूकिये, और देखिये कि उसपर आ-
कर जो मक्खी बैंठेगी वह तत्काल मर जायेगी।

शिक्षापाठ ७१ : सनत्कुमार—भाग २

सनत्कुमारने जब यह परीक्षा कर देखी तो यह बात सत्य सिद्ध हुई। पूर्व कर्मके पापके भागमे इस शरीरकी मद सम्बन्धी मिलावट होनेसे चक्रवर्तीका शरीर विषमय हो गया था। नश्वर और अशुचि-मय शरीरका ऐसा प्रपंच देखकर सनत्कुमारके अन्त करणमे वैराग्य उत्पन्न हो गया कि यह ससार त्याग करने योग्य है और इसी प्रकार-की अशुचि स्त्री, पुत्र और मित्र आदिके शरीरसे भी विद्यमान है। यह सब मोहमान त्याग करने योग्य है ऐसा कहकर वह छह खडकी प्रभुताका त्याग करके चल दिये। जब वह चक्रवर्ती साधुका वेश धारण करके विहार कर रहे थे तब उन्हे एक महान् रोग उत्पन्न हो गया। उनके सत्यकी परीक्षा करनेके लिए एक देव वैद्यके रूपमे आया, और उसने साधुसे कहा कि मै बहुत ही कुशल राजवैद्य हूँ, तुम्हारा शरीर रोगका भोग बना हुआ है, यदि तुम कहो तो मै इस रोगको तत्काल समाप्त कर सकता हूँ। तब साधुने कहा कि हे वैद्य! कर्मरूपी रोग अति उन्मत्त है यदि इस रोगको दूर करनेकी तुम्हारी शक्ति हो तो भले ही मेरे इस रोगको दूर करो। और यदि यह शक्ति न हो तो शारीरिक रोग भले बना रहे।

तब उस देवने कहा कि इस रोगको दूर करनेकी शक्ति मुझमे नही है। तत्पश्चात् साधुने अपनी लब्धिकी परिपूर्ण शक्तिसे अपनी अँगुलीको थूक-भरी करके उस रोग पर लगाई कि तत्काल वह रोग नष्ट हो गया और उनका वह शरीर ज्योका त्यो पूर्ववत् हो गया। तत्पश्चात् उसी समय उस देवने अपना स्वरूप प्रगट किया और वह धन्यवाद देकर तथा वन्दना करके अपने स्थानको चला गया।

जिस शरीरमे कोढ़के समान सदा रक्त और पीपसे खदबदाते

हुए महारोगकी उत्पत्ति होती है जिसका स्वभाव पल भरमें विनष्ट जानेका है, जिसके प्रत्येक रोममें पौने दो-दो रोगोंका निवास है और यह शरीर साढ़े तीन करोड़ रोमयुक्त है इसलिए यह रोगोंका वृहद् भंडार है यह बात विवेकसे स्पष्ट सिद्ध है। अन्न आदिकी न्यूनाधिकतासे वह प्रत्येक रोग उस शरीरमें प्रगट दिखाई देते हैं। मल, मूत्र, विष्ठा, हाड़, मांस, पीप और श्लेष्मसे जिसका ढाँचा टिका हुआ है, और जिसकी मनोहरता मात्र त्वचासे मानी जाती है उस शरीरका मोह सचमुच ही विभ्रम है। सनत्कुमारने जिसका लेशमात्र भी अभिमान किया वह भी उससे सहन नहीं हुआ तब फिर हे पामर तू क्योंकर मोह करता है? यह मोह मंगलदायक नहीं है।

शिक्षापाठ ७२. बत्तीस योग

सत्पुरुषोंने निम्नलिखित बत्तीस योगोंका संग्रह करके आत्माको उज्ज्वल बनानेका उपदेश दिया है—

१—[1]शिष्य अपने जैसा ही हो जाये इसके लिए उसे श्रुतादिज्ञान देना चाहिए।

२—[2]अपने आचार्यत्वका जो ज्ञान हो उसका दूसरेको बोध देना चाहिए, और उसे प्रकाशित करना चाहिए।

३—आपत्तिकालमें भी धर्मकी दृढ़ता नहीं छोड़नी चाहिए।

४—लोक-परलोकके सुखके फलकी चाहके बिना ही तप करना चाहिए।

५—जो शिक्षा मिली है तदनुसार यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना चाहिए और नई शिक्षाको विवेकपूर्वक ग्रहण करना चाहिए।

---

१. मोक्षसाधक योगके लिए शिष्यको आचार्यके सम्मुख आलोचना करनी चाहिए।

२ आचार्यको वह आलोचना दूसरेके प्रति प्रकाशित नहीं करनी चाहिए।

६—ममत्वका त्याग करना चाहिए।
७—गुप्त तप करना चाहिए।
८—निर्लोभत्व रखना चाहिए।
९—परीषह और उपसर्गको जीतना चाहिए।
१०—चित्तको सरल रखना चाहिए।
११—आत्मसयमका शुद्ध पालन करना चाहिए।
१२—सम्यक्त्वको शुद्ध रखना चाहिए।
१३—चित्तकी एकाग्र समाधि रखना चाहिए।
१४—निष्कपट आचार पालन करना चाहिए।
१५—विनय करने योग्य व्यक्तियोकी यथायोग्य विनय करना चाहिए।
१६—सन्तोषके द्वारा तृष्णाकी मर्यादाको कम करना चाहिए।
१७—वैराग्यभावनामे निमग्न रहना चाहिए।
१८—मायारहित व्यवहार करना चाहिए।
१९—शुद्ध करनी (क्रिया) मे सावधान रहना चाहिए।
२०—सवरको धारण करना और पापको रोकना चाहिए।
२१—अपने दोषोको समभावपूर्वक दूर करना चाहिए।
२२—समस्त प्रकारके विषयोसे विरक्त रहना चाहिए।
२३—मूल गुणोमे पच महाव्रतोको विशुद्ध रीतिसे पालन करना चाहिए।
२४—उत्तर गुणोमे पचमहाव्रतोको विशुद्ध रीतिसे पालन करना चाहिए।
२५—उत्साहपूर्वक कायोत्सर्ग धारण करना चाहिए।
२६—प्रमादरहित होकर ज्ञान ध्यानमे लीन रहना चाहिए।
२७—आत्मचारित्रमे सदैव सूक्ष्म उपयोगपूर्वक प्रवृत्त रहना चाहिए।
२८—जितेन्द्रियताके हेतु एकाग्रतापूर्वक ध्यान करना चाहिए।

२९—मरणोत्पादक दु खसे भी भयभीत नही होना चाहिए ।
३०—स्त्री आदिकी सगति छोडनी चाहिए ।
३१—प्रायश्चित्त लेकर विशुद्धि करनी चाहिए ।
३२—मरणके समय आराधना करनी चाहिए ।

यह एक एक योग अमूल्य है । इनका समष्टिरूपमे सग्रह करने वाला व्यक्ति परिणामस्वरूप अनन्त सुखको प्राप्त होता है ।

शिक्षापाठ ७३ मोक्ष-सुख

इस सृष्टि मण्डलमे कितनी ही ऐसी वस्तुएँ और मनकी इच्छाएँ विद्यमान हैं, जिन्हे कुछेक अशोमे जानने पर भी कुछ कहा नही जा सकता । तथापि वे वस्तुएँ कही सपूर्ण शाश्वत या अनन्त भेदवाली नही हैं । जबकि ऐसी वस्तुओंका वर्णन नही हो सकता, तब फिर अनन्त सुखमय मोक्ष सबधी उपमा तो कहाँसे मिल सकेगी ?

गौतम स्वामीने भगवान्‌से मोक्षके अनन्त सुखके सबधमे प्रश्न किया तो भगवान्‌ने उत्तरमे कहा कि—गौतम ! इस अनन्त सुखको मै जानता हूँ, किन्तु उसे कहा जा सके ऐसी यहाँपर कोई उपमा नही है । विश्वमे इस सुखके समान कोई भी वस्तु या सुख नही है । ऐसा कहकर उन्होने निम्नलिखित भावका एक भीलका दृष्टान्त दिया ।

एक जगलमे एक भद्र भील अपने बाल-बच्चो सहित रहता था । उसे शहर आदिकी समृद्धि या चकाचौंधका तनिक भी भान नही था । एक दिन कोई राजा अश्वक्रीडाके लिए घूमता-घामता उधरको आ निकला । उसे बहुत प्यास लगी । उस राजाने भीलसे इशारेमे पानी माँगा । भीलने राजाको पानी दिया । ठडा पानी पीकर राजा तृप्त हुआ । भील द्वारा प्राप्त तृप्तिकारक ठडे जलका प्रत्युपकार चुकानेकी दृष्टिसे राजाने भीलको समझाकर अपने साथ ले लिया । नगरमे आनेके बाद राजाने उस

भीलको उन वैभवपूर्ण वस्तुओके बीचमे रखा जो उसने अपने जीवन-मे कभी नही देखी थी। सुन्दर महल, पासमें अनेक अनुचर, मनोहर छत्र-पलग, स्वादिष्ट भोजन, मद-मद पवन और सुगंधि-विलेपन आदिसे उसे आनन्दविभोर कर दिया। राजा उस भीलको देखनेके लिए विविध प्रकारके हीरा-माणिक, मोती, मणि-रत्न और रग-विरगी बहुमूल्य वस्तुएँ निरन्तर भेजा करता तथा उसे बाग-बगीचोमे घूमने-फिरनेको भेजा करता, इस प्रकार राजा उसे सर्व प्रकारके सुख दिया करता था। एक रात्रिको जब सब सोये हुये थे, भीलको अपने बाल-बच्चोकी याद हो आयी और वह बिना कुछ लिये-दिये ही एकदम वहाँसे निकलकर सीधा अपने कुटुम्बियोसे जा मिला। उन सबने मिलकर पूछा कि तू अभी तक कहाँ था? भीलने उत्तर दिया कि—बहुत सुखमे। मैने वहाँ बहुत प्रशसा करने योग्य वस्तुएँ देखी।

कुटुम्बीजन—किन्तु वे कैसी थी? यह तो हमें बतला।

भील—क्या कहूँ? यहाँ वैसी एक भी वस्तु नही है।

कुटुम्बीजन—ऐसा कही हो सकता है? देखो, यहाँ कैसे सुन्दर शख, सीप और कौडी-कौडा पड़े हैं। क्या वहाँ कोई ऐसी दर्शनीय वस्तु थी?

भील—नही भाई, नही, यहाँ वैसी चीज तो एक भी नही है। वहाँसे सौवें या हजारवे भागकी भी सुन्दर वस्तु यहाँ कोई नही है।

कुटुम्बीजन—तब तो तू चुपचाप बैठा रह; तुझे भ्रम हुआ है। भला, इससे अच्छा तो और क्या होगा?

हे गौतम! जैसे वह भील राजवैभवके सुख भोग कर आया था, और जानता भी था, किन्तु उपमा योग्य वस्तुके नही मिलनेसे वह कुछ भी वर्णन नही कर सका, उसी प्रकार अनुपमेय मोक्षको,

अथवा सच्चिदानन्द स्वरूपमय निर्विकारी मोक्षके सुखके असंख्यातवे भागको भी, योग्य उपमेयके नही मिलनेसे मै तुझे नही कह पा रहा हूँ।

मोक्षके स्वरूपमे शंका करनेवाले कुतर्कवादी है। उन्हे क्षणिक सुख-सम्बन्धी विचारके आगे सत्-सुखका विचार नही आ सकता। कोई आत्मिक ज्ञानहीन व्यक्ति ऐसा भी कहते है कि—यहाँसे कोई विशेष सुखका साधन मोक्षमे नही होनेसे उसे अनन्त, अव्याबाध सुख कह देते है। किन्तु उनका यह कथन विवेकपूर्ण नही है। प्रत्येक मनुष्यको निद्रा प्रिय है, किन्तु उसमें वह कुछ जान या देख नही सकते। और यदि कुछ जाना भी जाता है तो वह केवल स्वप्नोपाधिका मिथ्यापना ही है। जिसका कोई प्रभाव भी हो सकता है। जिसमे सूक्ष्म और स्थूल सब कुछ जाना और देखा जा सकता है ऐसी स्वप्न रहित निद्रा तथा उपाधि रहित शान्त निद्राका वर्णन कोई कैसे कर सकता है? और कोई इसकी उपमा भी क्या दे? यह तो स्थूल दृष्टान्त है फिर भी इसे यहाँ इसलिए कहा है कि इस सम्बन्धमे बाल और अविवेकी कुछ विचार कर सकें।

भीलका दृष्टान्त, समझानेके लिए भाषा-भेदके फेर-फारसे तुम्हे यह बताया है।

शिक्षापाठ ७४ : धर्मध्यान—भाग १

भगवान्ने चार प्रकारके ध्यान कहे है—आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इनमेसे पहलेके दो ध्यान त्यागने योग्य है और बादके दो ध्यान आत्मसार्थकरूप है। श्रुतज्ञानके भेदोको जाननेके लिए, शास्त्रविचारमे कुशल होनेके लिए, निर्ग्रन्थप्रवचनका तत्त्व प्राप्त करनेके लिए, सत्पुरुषोके द्वारा सेवा करने योग्य, विचार करने योग्य और ग्रहण करने योग्य धर्मध्यानके मुख्य सोलह भेद है। इनमेसे पहले चार भेदोको कहता हूँ—

१. आणाविजय (आज्ञाविचय), २. आवायविजय (अपाय-विचय), ३ विवागविजय (विपाकविचय), ४ संठाणविचय (संस्थानविचय) ।

१ **आज्ञाविचय**—आज्ञा अर्थात् सर्वज्ञ भगवान्‌ने धर्म-तत्त्व सम्बन्धी जो कुछ भी कहा है वह सब सत्य है, इसमे शका करना योग्य नही। कालकी हीनतासे, उत्तम ज्ञानके विच्छेद होनेसे, बुद्धि-की मन्दतासे अथवा ऐसे ही अन्य किसी कारणसे मेरी समझमे ये तत्त्व नही आते, परन्तु अर्हन्त भगवान्‌ने अशमात्र भी माया-युक्त अथवा असत्य नही कहा है, क्योंकि वे वीतरागी, त्यागी और नि स्पृही थे। इन्हे मृषा कहनेका कोई भी कारण नही था। तथा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होनेके कारण वे अज्ञानसे भी मृषा नही कहेगे। जहाँ अज्ञान ही नही है वहाँ उस सम्बन्धी मृषा कहाँसे होवे? इस प्रकार चितवन करना सो 'आज्ञाविचय' नामका प्रथम भेद है।

२ **अपायविचय**—राग, द्वेष, काम, क्रोध इत्यादिसे जो दु ख उत्पन्न होता है उसका चितवन करना सो 'अपायविचय' नाम-का दूसरा भेद है। अपाय अर्थात् दु.ख।

३ **विपाकविचय**—मै प्रतिक्षण जो-जो दु ख सहन करता हूँ, भवा-टवीमे पर्यटन करता हूँ, अज्ञान आदिको प्राप्त होता हूँ। वह समस्त कर्म-फलके उदयसे है, इस प्रकार चितवन करना सो धर्मध्यानका तीसरा भेद है।

४. **संस्थानविचय**—तीन लोकके स्वरूपका चितवन करना। लोक स्वरूप सुप्रतिष्ठकके आकारका है, जीव और अजीवसे सपूर्ण भरपूर है। यह असख्यात योजनकी कोटानुकोटिसे तिरछा लोक है। इसमे असंख्यात द्वीप-समुद्र है, असख्यात ज्योतिषी, भवनवासी, और व्यन्तर आदिका निवास है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी विचित्रता इसमे लगी हुई है। ढाई द्वीपमे जघन्य

तीर्थंकर बीस और उत्कृष्ट एक सौ सत्तर होते हैं तथा केवली भगवान और निर्ग्रंथ मुनिराज विचरते हैं, उन्हें "वंदामि, नमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं, पज्जुवासामि" इस भाँति तथा वहाँ रहने वाले श्रावक और श्राविकाओंका भी गुणगान करे। उस तिरछे लोकसे असंख्यात गुना अधिक ऊर्ध्वलोक है। वहाँ अनेक प्रकारके देवताओंका निवास है। पश्चात् ईषत् प्राग्भारा है। उसके बाद मुक्तात्मा विराजित हैं। उन्हें "वंदामि, यावत् पज्जुवासामि"। उस ऊर्ध्वलोकसे कुछ विशेष अधोलोक है। वहाँ अनन्त दुःखोंसे परिपूर्ण नरकावास और भुवनपतियोंके भुवनादिक हैं। इन तीनों लोकोंके समस्त स्थानोंको इस आत्माने सम्यक्त्व रहित करनीसे अनन्त बार जन्म-मरण करके स्पर्श किया है। ऐसा चिंतवन करना सो 'संस्थानविचय' नामक धर्मध्यानका चौथा भेद है। उन चार भेदोंको विचार कर सम्यक्त्व सहित श्रुत और चारित्र धर्मकी आराधना करनी चाहिए, जिससे यह अनन्त जन्म-मरण दूर हो जाये। धर्मध्यानके इन चार भेदोंका स्मरण रखना चाहिए।

शिक्षापाठ ७५ : धर्मध्यान—भाग २

यहाँ धर्मध्यानके चार लक्षण कहता हूँ। १ आज्ञारुचि—अर्थात् वीतराग भगवान्‌की आज्ञा अंगीकार करनेकी रुचिका उत्पन्न होना। २ निसर्गरुचि—आत्मा स्वाभाविकरूपसे जातिस्मरण आदि ज्ञान-से श्रुत सहित चारित्र धर्मको धारण करनेकी रुचिको प्राप्त हो उसे निसर्गरुचि कहते हैं। ३ सूत्ररुचि—श्रुतज्ञान और अनन्त तत्त्वोंके भेदोंके लिए कहे हुए भगवान्‌के पवित्र वचनोंका जिनमें गूँथन हुआ है, उन सूत्रोंको श्रवण करने, मनन करने और भावसे पठन करनेकी रुचिका उत्पन्न होना सूत्ररुचि है। ४ उपदेशरुचि—

अज्ञानसे उपार्जित कर्मोको हम ज्ञानसे खपावें और ज्ञानके द्वारा नये कर्मोको न बाँधें, मिथ्यात्वके द्वारा उपार्जित कर्मोको सम्यक्भाव-से खपावे और सम्यक्भावसे नये कर्मोको न बाँधे; अवैराग्यसे उपा-र्जित कर्मोको वैराग्यसे खपावे और वैराग्यसे नये कर्मोको न बाँधे। कषायसे उपार्जित कर्मोको कषायको दूर करके खपावे और क्षमादिसे नये कर्मोको न बाँधे, अशुभ योगसे उपार्जित कर्मोको शुभ योगसे खपावे और शुभ योगसे नये कर्मोको न बाँधें, पाँच इन्द्रियोंके स्वादरूप आस्रवसे उपार्जित कर्मोको सवरसे खपावे और तत्त्वरूप सवरसे नये कर्मोको न बाँधे, इसके लिए अज्ञानादि आस्रव मार्ग छोडकर ज्ञानादि सवर मार्ग ग्रहण करनेके लिए तीर्थंकर भगवान्के उपदेशको सुननेकी रुचिके उत्पन्न होनेको उपदेशरुचि कहते है। धर्मध्यानके ये चार लक्षण कहे।

धर्मध्यानके चार आलंबन कहता हूँ—१ वाचना, २ पृच्छना, ३. परावर्त्तना, ४ धर्मकथा।

१ **वाचना**—विनय सहित निर्जरा तथा ज्ञान प्राप्त करनेके लिए सूत्र सिद्धातके मर्मज्ञ गुरू अथवा सत्पुरुषके समीप सूत्र तत्त्वका अभ्यास करना सो वाचनालबन।

२ **पृच्छना**—अपूर्व ज्ञान प्राप्त करनेके लिए जिनेश्वर भगवान्-के मार्गको दिपाने और शका-शल्यको निवारण करनेके लिए तथा दूसरोंके तत्त्वोकी मध्यस्थ परीक्षाके लिए यथायोग्य विनय सहित गुरु आदिसे प्रश्नोके पूछनेको पृच्छना कहते है।

३ **परावर्त्तना**—पूर्वमे जो जिनभाषित सूत्रार्थ पढे हो उन्हे स्मरणमे रखनेके लिए और निर्जराके लिए शुद्ध उपयोग सहित शुद्ध सूत्रार्थकी बारबार सज्झाय करना परावर्त्तनालबन है।

४ **धर्मकथा**—वीतराग भगवान्ने जो भाव जैसे प्रणीत किये हैं, उन भावोको उसी तरह समझकर, ग्रहण करके, विशेषरूपसे निश्चय करके, शका, काखा और वितिगिच्छारहित अपनी निर्जरा-

के लिए सभामें उन भावोंको उसी तरह प्रणीत करनेको धर्मकथालंबन कहते हैं। जिससे सुननेवाले और श्रद्धा करनेवाले दोनों ही भगवान्‌की आज्ञाके आराधक बनें। ये धर्मध्यानके चार आलंबन कहे गये। अब धर्मध्यानकी चार अनुप्रेक्षायें कहता हूँ। १ एकत्वानुप्रेक्षा, २ अनित्यानुप्रेक्षा, ३ अशरणानुप्रेक्षा, ४ संसारानुप्रेक्षा। इन चारोंका उपदेश बारह भावनामें कहा जा चुका है वह तुम्हें स्मरण होगा।

शिक्षापाठ ७६ : धर्मध्यान—भाग ३

धर्मध्यानको पूर्व आचार्योंने और आधुनिक मुनीश्वरोंने भी विस्तारपूर्वक बहुत समझाया है। इस ध्यानसे आत्मा मुनित्वभावमें निरंतर प्रवेश करता है।

जो जो नियम अर्थात् भेद, आलम्बन और अनुप्रेक्षा कही हैं वह बहुत मनन करने योग्य है। अन्य मुनीश्वरोंके कहे अनुसार उन्हें मैंने सामान्य भाषामें तुम्हें कहा। इसके साथ निरन्तर यह ध्यान रखनेकी आवश्यकता है कि इनमेंसे हमने कौन-सा भेद प्राप्त किया, अथवा कौनसे भेदकी ओर भावना रखी है? इन सोलह भेदोंमें हर एक भेद हितकारी और उपयोगी है। परन्तु जिस अनुक्रमसे उन्हें लेना चाहिए उस अनुक्रमसे लेनेपर वे विशेष आत्म-लाभके कारण होते हैं।

बहुतसे लोग सूत्र-सिद्धान्तके अध्ययनका कण्ठस्थ पाठ करते हैं, यदि वे उनके अर्थ और उनमें कहे मूल तत्त्वोंकी ओर ध्यान दें तो वे कुछ सूक्ष्म भेदको पा सकते हैं। जैसे केलेके पत्रमें, पत्रमें पत्रकी चमत्कृति है वैसे ही सूत्रार्थमें चमत्कृति है। इसके ऊपर विचार करने पर निर्मल और केवल दयामय मार्गके वीतरागप्रणीत तत्त्व-बोधका बीज अन्तःकरणमें अंकुरित हो उठेगा। वह अनेक प्रकारके शास्त्रावलोकनसे, प्रश्नोत्तरसे, विचारसे और सत्पुरुषोंके समागमसे

पोषण पाकर वृद्धिगत होकर वृक्षरूप होगा। फिर वह वृक्ष निर्जरा और आत्म-प्रकाशरूप फल देगा।

श्रवण, मनन और निदिध्यासनके प्रकार वेदान्तवादियोने बताये हैं; परन्तु जैसे इस धर्मध्यानके पृथक् पृथक् सोलह भेद यहाँ कहे गये है वैसे तत्त्वपूर्वक भेद अन्यत्र कही भी नही कहे गये, यह अपूर्व है। इसमेंसे शास्त्रोके श्रवण करनेका, मनन करनेका, विचार करने का, अन्यको बोध करनेका, शका काखा दूर करनेका, धर्मकथा करनेका, एकत्व विचारनेका, अनित्यता विचारनेका, अशरणता विचारने का, वैराग्य पानेका, ससारके अनन्त दु ख मनन करनेका और वीतराग भगवान्‌की आज्ञासे समस्त लोकालोक विचार करनेका अपूर्व उत्साह मिलता है। भेद प्रभेद करके इसके फिर अनेक भाव समझाये हैं। इसमेके कुछ भावोंके समझनेसे तप, शान्ति, क्षमा, दया, वैराग्य, और ज्ञानका बहुत-बहुत उदय होगा।

तुम कदाचित् इन सोलह भेदोंका पठन कर गये होगे तो भी पुन:-पुन: उसका परावर्तन करना।

शिक्षापाठ ७७ : ज्ञानके सम्बन्धमें दो शब्द—भाग-१

जिसके द्वारा वस्तुका स्वरूप जाना जाय उसे ज्ञान कहते है। ज्ञान शब्दका यह अर्थ है। अब अपनी बुद्धिके अनुसार यह विचार करना है कि क्या इस ज्ञानकी कोई आवश्यकता है? और यदि आवश्यकता है तो उसकी प्राप्तिके लिए क्या कोई साधन है? और यदि साधन है तो क्या उसके अनुकूल देश, काल और भाव विद्यमान है? यदि देश, काल आदि अनुकूल है तो वे कहाँ तक अनुकूल है? विशेषमें यह भी विचार करना है कि इस ज्ञानके कितने भेद हैं? जाननेरूप क्या है? और फिर इसके कितने भेद है? तथा इसके जाननेके कौन-कौनसे साधन है? तथा उन साधनोको किस-किस

मार्गसे प्राप्त किया जा सकता है ? तथा इस ज्ञानका उपयोग अथवा परिणाम क्या है ? यह सब जानना आवश्यक है।

१—अब यहाँ सबसे पहले इस सम्बन्धमे विचार करे कि ज्ञान-की क्या आवश्यकता है ? यह आत्मा इस चौदह रज्जु प्रमाण लोक-मे, चारो गतियोमे अनादि कालसे कर्मयुक्त स्थितिमे पर्यटन कर रहा है। जहाँ क्षण भरको भी सुखका भाव नही है ऐसे नरक-निगोद आदि स्थानोका इस आत्माने बहुत-बहुत काल तक बारबार सेवन किया है। और इसने असह्य दु खोको बारम्बार अथवा यो कहिये कि अनन्त बार सहन किये है। इस सतापसे निरन्तर सतप्त आत्मा मात्र अपने ही कर्मोके विपाकसे पर्यटन किया करता है। इस पर्यटन-का कारण अनत दुखदाई ज्ञानावरणीय आदि कर्म है, जिनके कारण आत्मा निजस्वरूपको प्राप्त नही कर पाता और वह विषयादिक मोह-बन्धनको निजस्वरूप मान रहा है। इन सबका परिणाम मात्र ऊपर कहे अनुसार ही है कि—अनन्त दु ख अनन्त भावोसे सहन करना। चाहे जितना अप्रिय, चाहे जितना दुखदायक और चाहे जितना रौद्र होने पर भी जो दु ख अनन्त कालसे अनन्त बार सहन करना पडा वह दु ख मात्र अज्ञानादिक कर्मसे ही सहन किया है। इस अज्ञानादिको दूर करनेके लिए ज्ञानकी परिपूर्ण आवश्यकता है।

शिक्षापाठ ७८ : ज्ञानके सम्बन्धमे दो शब्द—भाग २

२ अब ज्ञान प्राप्तिके साधनोंके सम्बन्धमे कुछ विचार करें। अपूर्ण पर्याप्तिके द्वारा परिपूर्ण आत्मज्ञान सिद्ध नही होता, इसलिए छह पर्याप्तियोसे युक्त देह ही आत्मज्ञानको सिद्ध कर सकता है और ऐसा देह मात्र मानव-देह ही है। अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि मानव-देहको प्राप्त तो अनेक आत्मा है। तब फिर वे सब आत्मज्ञानको क्यो नही प्राप्त कर लेते है ? इसके उत्तरमे हम यह मान सकते हैं कि जिन्होने सम्पूर्ण आत्मज्ञानको प्राप्त किया

है उनके पवित्र वचनामृतको उन्हें श्रुति नही होती और श्रुतिके विना सस्कार नही होते और जव संस्कार ही नही हों तो फिर श्रद्धा कहाँसे होगी ? और फिर जहाँ यह एक भी न हो तो फिर वहाँ ज्ञान प्राप्ति कैसे होगी ? इसलिए मानव-देहके साथ ही सर्वज्ञ-वचनामृतकी प्राप्ति और उसकी श्रद्धा भी साधनरूप है। सर्वज्ञ-वचनामृत अकर्मभूमिमे अथवा मात्र अनार्यभूमिमे नही मिलते तब फिर वहाँ मानव-देह किस उपयोगका ? इसलिए आर्यभूमि भी साधनरूप है। तत्त्वकी श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिए और बोध-प्राप्तिके लिए निर्ग्रंथगुरुकी आवश्यकता है। द्रव्यसे जो कुल मिथ्यात्वी है उस कुलमे हुआ जन्म भी आत्मज्ञान प्राप्तिमे हानिरूप है। क्योकि धर्म-मत भेद अत्यन्त दु खदायक है। परम्परासे पूर्वजोके द्वारा ग्रहीत दर्शनमे ही सत्यभावना बद्ध होती है इसलिए भी आत्म-ज्ञान रुकता है। इसलिये उत्तम कुल भी आवश्यक है। इन सबकी प्राप्तिके लिए भाग्यशाली बनना। उसमे सत्पुण्य अर्थात् पुण्यानुबधी पुण्य इत्यादि उत्तम साधन है। इस प्रकार यह दूसरा साधनभेद कहा।

३. यदि साधन हैं तो क्या उनके अनुकूल देश और काल है ? इस तीसरे भेदका विचार करे। भारत, महा-विदेह इत्यादि कर्म-भूमि और उनमे भी आर्यभूमि देश रूपसे अनुकूल है। जिज्ञासु भव्य! तुम सब इस समय भारतमे हो इसलिए भारतदेश अनुकूल है। काल भावकी अपेक्षासे यति और श्रुतज्ञान प्राप्त कर सकनेकी अनुकूलता भी है। क्योकि इस दु षम पचमकालमे परमावधि, मन पर्यय और केवल ये पवित्र ज्ञान दिखाई नही देते हैं इसलिए कालकी सम्पूर्ण अनुकूलता नही है।

४ देश, काल आदि यदि अनुकूल है तो वे कहाँ तक है ? इसका उत्तर यह है कि अवशिष्ट सैद्धान्तिक मतिज्ञान, श्रुतज्ञान,

सामान्य मतसे, कालकी अपेक्षासे इक्कीस हजार वर्ष रहेगा । उसमेसे अढाई हजार वर्ष व्यतीत हो गये हैं, शेष साढे अठारह हजार वर्ष बाकी हैं । अर्थात् पंचमकालकी पूर्णता तक कालकी अनुकूलता है । इसलिये देश-काल अनुकूल हैं ।

शिक्षापाठ ७९ : ज्ञानके सम्बन्धमें दो शब्द—भाग ३

अब इस सम्बन्धमें विशेष विचार करें ।

१ आवश्यकता क्या है ? इस महद् विचारका पुनरावर्तन कुछ विशेषतासे करें तो स्पष्ट हो जायगा कि आवश्यक तो स्वस्वरूपकी श्रेणी चढना है, जिससे अनन्त दुःखका नाश हो । दुःखके नाशसे आत्माका श्रेयिक सुख है, और सुख निरन्तर ही आत्माको प्रिय है । किन्तु वह सुख स्वस्वरूपिक है । देश, काल, भावको लेकर श्रद्धा, ज्ञान इत्यादि उत्पन्न करनेकी आवश्यकता है । सम्यक्भाव सहित उच्चगति, वहाँसे महाविदेहमें मानवदेह लेकर जन्म, वहाँ सम्यक् भावकी पुनः और अधिक उन्नति, तत्त्वज्ञानकी विशुद्धता और वृद्धि तथा अन्तमें परिपूर्ण आत्मसाधन, ज्ञान और उसका सत्य परिणाम मात्र सर्व दुःखका अभाव अर्थात् अखण्ड, अनुपम, अनन्त शाश्वत पवित्र मोक्षकी प्राप्ति, इन सबके लिए ज्ञानकी आवश्यकता है ।

२ अब इस सम्बन्धमें विचार—कथन करते हैं कि ज्ञानके कितने भेद हैं । यद्यपि ज्ञानके अनन्त भेद हैं, तथापि सामान्य दृष्टिसे समझनेके लिए सर्वज्ञ भगवान्ने इसके ५ भेद कहे हैं । उन्हे मैं ज्योका त्यो कहता हूँ । वे हैं—प्रथम मति, द्वितीय श्रुत, तृतीय अवधि, चतुर्थ मनःपर्यय, और पाँचवाँ सम्पूर्ण स्वरूप केवलज्ञान । इनके भी भेदोपभेद हैं, और उनके भी अतीन्द्रिय स्वरूपसे अनन्त भंगजाल हैं ।

३ अब इसका विचार करें कि जानने योग्य क्या है ? वस्तु स्वरूपको जाननेका नाम ज्ञान है, किन्तु वस्तुएँ तो अनन्त हैं, उन्हे

किस क्रमसे जाना जाय ? सर्वज्ञ होनेपर वे सत्पुरुष सर्वदर्शितासे अनन्त वस्तुओके स्वरूपको समस्त भेद युक्त जानते देखते है, किन्तु उन्होने किन-किन वस्तुओंको जाननेसे सर्वज्ञश्रेणीको प्राप्त किया ? जब तक अनन्त श्रेणियोको नही जाना तब तक किस वस्तुको जानते-जानते अनन्त वस्तुओको अनन्तरूपसे जान पायेगे ? यहाँ इस शकाका समाधान करते है ।

जो अनन्त वस्तुएँ मानी है वे अनन्त भगोकी अपेक्षासे है, किन्तु मुख्य वस्तुत्व स्वरूपसे उसकी दो श्रेणियाँ (भेद) है—जीव और अजीव। विशेष वस्तुत्व स्वरूपसे नौ तत्त्व अथवा छह द्रव्यकी श्रेणियाँ ज्ञातव्य हो जाती है । इन श्रेणियोसे चढते-चढते सर्वभावसे ज्ञात होकर लोकालोकस्वरूप हस्तामलकवत् जाना देखा जा सकता है। इसलिए ज्ञातव्य पदार्थ तो मूलमे जीव और अजीव ही है। इस प्रकार ज्ञातव्यरूप मुख्य दो श्रेणियाँ कही गई ।

शिक्षापाठ ८० : ज्ञानके सम्बन्धमें दो शब्द—भाग ४

४. इसके उपभेदको सक्षेपमे कहता हूँ। 'जीव' चैतन्य लक्षणसे एक रूप है। तथा देहस्वरूप और द्रव्यस्वरूपसे अनन्तानन्त है। देहस्वरूपसे उसकी इन्द्रियाँ आदि जानने योग्य है, तथा उसकी ससर्ग-ऋद्धि जानने योग्य है। इसी प्रकार 'अजीव' और उसके रूपी अरूपी पुद्गल, आकाशादि विचित्र भाव, कालचक्र इत्यादि जानने योग्य है। प्रकारान्तरसे जीव-अजीवको जाननेके लिए सर्वज्ञ सर्वदर्शीने नौ श्रेणिरूप नौ तत्त्व कहे है।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—इन तत्त्वोमेसे कुछ ग्रहण करने योग्य, कुछ जानने योग्य और कुछ त्यागने योग्य है। और फिर यह सभी तत्त्व जानने योग्य तो हैं ही।

५. जानने के साधन। यद्यपि सामान्य विचारसे इन साधनोको जान लिया है तथापि कुछ विशेष विचार करते है। भगवान्‌की आज्ञा और उसके शुद्ध स्वरूपको यथातथ्य जानना चाहिए। स्वय तो कोई विरला ही जानता है, अन्यथा निर्ग्रन्थ ज्ञानी गुरु ही वतला सकते है। निरागी ज्ञाता सर्वोत्तम हैं, इसलिए श्रद्धाका वीजारोपण करनेवाले अथवा उसे पोपण करनेवाले गुरु साधनरूप है। इन सावनके लिए ससारकी निवृत्ति अर्थात् शम, दम, व्रह्मचर्य आदि अन्य सावन है। यदि इन्हे साधनोको प्राप्त करनेका मार्ग कहा जाय तो भी ठीक है।

६ इस ज्ञानके उपयोग अथवा परिणामके उत्तरका आशय ऊपर कहा जा चुका है, फिर भी कालभेदसे कुछ कहना है, और वह इतना ही कि दिनमे दो घडीका समय भी नियमित रूपसे निकालकर जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहे गए तत्त्ववोधका पर्यटन करो। वीतरागके एक सैद्धान्तिक शब्दसे ज्ञानावरणीयका वहुत सा क्षयोपशम हो जाएगा ऐसा मै विवेकपूर्वक कहता हूँ।

शिक्षापाठ ८१ : पंचमकाल

काल-चक्रके विचारोको अवश्यमेव जानना चाहिए। जिनेन्द्र भगवान्‌ने इस कालचक्रके दो भेद कहे है। १. उत्सर्पिणी, २. अवसर्पिणी। इनमे से एक-एक भेदके छह-छह आरे है। वर्तमानमे प्रवर्तमान आरा पचमकाल कहलाता है और वह अवसर्पिणी काल-का पाचवाँ आरा है। उतरते हुए कालको अवसर्पिणी कहते हैं। इस उतरते हुए कालके पाँचवें आरेमे इस भरत क्षेत्रमे कैसी प्रवृत्ति होनी चाहिए इसके लिए सत्पुरुपोने कुछ विचार वतलाये है, वे अवश्य जानने योग्य है।

वे पचमकालके स्वरूपको मुख्यतया इस भावमे वतलाते हैं कि मनुष्योकी श्रद्धा निर्ग्रन्थ प्रवचन परसे क्षीण होती जाएगी।

धर्मके मूल तत्त्वोमे मतमतान्तर बढेगे । पाखडी और प्रपची मतोका मडन होगा । जन समूहकी रुचि अधर्मकी ओर जाएगी, सत्य और दया धीरे-धीरे पराभवको प्राप्त होगे । मोहादिक दोपोंकी वृद्धि होती जाएगी । दम्भी और पापी गुरू पूज्य माने जायेगे । दुष्ट वृत्तिके लोग अपने दद-फदमे सफल होगे । मीठे किन्तु धूर्त वक्ता पवित्र माने जायेगे । शुद्ध ब्रह्मचर्य आदि शीलयुक्त पुरुष मलिन कहलायेगे । आत्मिकज्ञानके भेद नष्ट होते जाएँगे । हेतु-हीन क्रियाएँ बढती जाएँगी । बहुधा अज्ञान क्रियाओका सेवन होगा । व्याकुलता पूर्ण विषयोके साधन बढते जाएँगे । ऐकान्तिक पक्ष सत्ताधीश होगे । शृगारमे धर्म माना जाएगा । सच्चे क्षत्रियोके विना भूमि शोक-ग्रस्त होगी । निर्माल्य राजवशी वेश्या-विलासमे मोहको प्राप्त होगे । धर्म, कर्म और सच्ची राजनीतिको भूल जाएँगे । अन्यायको जन्म देगे । जैसे बनेगा वैसे प्रजाको लूटेगे । स्वय पापपूर्ण आचरणका सेवन करके प्रजासे उनका पालन कराएँगे । राजवशके नाम पर शून्यता आती जाएगी । नीच मन्त्रियोकी महत्ता बढती जाएगी । वे दीन प्रजाको चूसकर भण्डार भरनेका राजाको उपदेश देगे । शील-भग करनेका धर्म राजाको अगीकार करायेगे । शौर्य आदि सद्-गुणोका नाश करायेगे । शिकार आदिके पापोमे अन्ध बनायेगे । राज्याधिकारी अपने अधिकारसे हजार गुना अहकार बतलायेगे । ब्राह्मण लालची और लोभी हो जायेगे । वे सद्विद्याको दबा देगे और सासारिक साधनोको धर्म बतलाएँगे । वैश्य लोग मायावी, मात्र स्वार्थी और कठोर हृदयके होते जाएँगे । समस्त मानव-वर्गकी सद्वृत्तियाँ घटती जाएँगी । अकृत और भयकर कृत्य करनेमे उनकी वृत्ति नही रुकेगी । विवेक, विनय और सरलता इत्यादि सद्गुण घटते जायेगे । अनुकम्पाके नाम पर हीनता आसन जमायेगी । माताकी अपेक्षा पत्नीके प्रति प्रेम बढेगा । पिताकी

अपेक्षा पुत्रके प्रति प्रेम बढेगा। नियम पूर्वक पतिव्रत धर्म पालने वाली सुन्दरियाँ कम हो जायेगी। केवल स्नानसे पवित्रता मानी जाएगी। धनसे उत्तम कुल माना जाएगा। शिष्य गुरुसे उल्टे चलेगे। भूमिका रस कम हो जाएगा। सक्षेपमे कहनेका तात्पर्य यह है कि उत्तम वस्तुओकी क्षीणता होगी और कनिष्ठ वस्तुओका उदय होगा। पचमकालका स्वरूप इन बातोमे प्रत्यक्ष सूचन भी कितना अधिक करता है ?

मनुष्य सद्धर्मतत्त्वमे परिपूर्ण श्रद्धावान नही हो सकेगा, सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान प्राप्त नही कर सकेगा। जम्बूस्वामीके निर्वाणके बाद दश निर्वाणी वस्तुएँ इस भरतक्षेत्रसे व्यवच्छेद हो गई हैं।

पचमकालके इस स्वरूपको जानकर विवेकी पुरुष तत्त्वको ग्रहण करेगे, कालानुसार धर्मतत्त्वकी श्रद्धाको प्राप्त करके उच्च गतिको साधकर परिणामत मोक्षको सिद्ध करेगे। निर्ग्रंथ प्रवचन, निर्ग्रंथ गुरु इत्यादि धर्मतत्त्वको प्राप्त करनेके साधन हैं। इनकी आराधनासे कर्मोंकी विराधना है।

शिक्षापाठ ८२ : तत्त्वावबोध—भाग १

दशवैकालिकसूत्रमे कहा है कि जिसने जीवाजीवके भावोको नही जाना वह अबुध सयममे स्थिर कैसे रह सकेगा ? इस वचनामृतका तात्पर्य यह है कि तुम आत्मा और अनात्माके स्वरूपको जानो। इसके जाननेकी सम्पूर्ण आवश्यकता है।

आत्मा और अनात्माका सत्य स्वरूप निर्ग्रंथ-प्रवचनमेसे प्राप्त हो सकता है। यद्यपि अनेक अन्य मतोमे इन दो तत्त्वोके सम्बन्धमे विचार बतलाये गए हैं किन्तु वे यथार्थ नही है। महा प्रज्ञावान आचार्योंके द्वारा किए गए विवेचनपूर्वक प्रकारान्तरसे कथित मुख्य नव तत्त्वोको जो विवेक बुद्धिसे जानता है वही सत्पुरुष आत्मस्वरूपको पहचान सकता है।

स्याद्वाद-शैली अनुपम और अनन्त भेदभावसे परिपूर्ण है। इस शैलीको परिपूर्ण रूपसे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी ही जान सकते है, तथापि इनके वचनामृतके अनुसार आगमकी सहायतासे यथा-बुद्धि नवतत्त्वोका स्वरूप जानना आवश्यक है। इन नौ तत्त्वोको प्रिय श्रद्धा भावपूर्वक जाननेसे परम विवेक-बुद्धि, शुद्ध सम्यक्त्व और प्रभाविक आत्मज्ञानका उदय होता है। नवतत्त्वोमे लोकालोकका सम्पूर्ण स्वरूप आ जाता है। जिस प्रकार जिसकी जितनी बुद्धिकी गति है उस प्रकार वे तत्त्वज्ञान सम्बन्धी दृष्टि पहुँचाते है और भावानुसार उनके आत्माकी उज्वलता होती है और उसके द्वारा वह आत्मज्ञानके निर्मल रसका अनुभव करता है। जिसका तत्त्वज्ञान उत्तम और सूक्ष्म है तथा जो सुशीलयुक्त तत्त्वज्ञानका सेवन करता है वह पुरुष महद् भाग्यशाली है।

मैं इन नव तत्त्वोके नाम पिछले शिक्षापाठमे कह चुका हूँ; इनका विशेष स्वरूप प्रज्ञावन्त आचार्योके महान् ग्रन्थोसे अवश्य जानना चाहिए। क्योकि सिद्धातमे जो-जो कहा है उन सबको विशेष भेदसे समझनेके लिए प्रज्ञावन्त आचार्योके द्वारा रचित ग्रन्थ सहायभूत है। ये गुरुगम्यरूप भी है। नौ तत्त्वोके ज्ञानमे नय, निक्षेप और प्रमाणके भेद आवश्यक हैं, और उनका यथार्थ ज्ञान उन प्रज्ञावन्तोने दिया है।

शिक्षापाठ ८३ : तत्त्वावबोध—भाग २

सर्वज्ञ भगवान्ने लोकालोकके सम्पूर्ण भावोको जाना और देखा और उन्होने भव्य जीवोको उनका उपदेश दिया। भगवान्ने अनन्त ज्ञानके द्वारा लोकालोक-स्वरूप सम्बन्धी अनन्तभेद जाने थे, किन्तु उन्होने सामान्य मनुष्योको उपदेशके द्वारा श्रेणी चढनेके लिए मुख्य रूपसे नौ पदार्थ बतलाये है। इसमे लोकालोकके समस्त भावोका समावेश हो जाता है। निर्ग्रंथ प्रवचनका जो-जो सूक्ष्म बोध है वह

तत्त्वकी दृष्टिसे नौ तत्त्वोमे समाविष्ट हो जाता है। तथा समस्त धर्ममतोका सूक्ष्म विचार नव-तत्त्व विज्ञानके एक देशमे आ जाता है। आत्माकी जो अनत शक्तियाँ ढँकी हुई हैं उन्हे प्रकाशित करनेके लिए अर्हत भगवान्का पवित्र बोध है। ये अनन्त शक्तियाँ तब प्रफुल्लित हो सकती हैं जब नव-तत्त्व-विज्ञानका पारावार ज्ञानी बने॥

सूक्ष्म द्वादशागी ज्ञान भी इस नव-तत्त्व स्वरूप ज्ञानमे सहायकरूप है। यह भिन्न-भिन्न प्रकारसे नव-तत्त्व स्वरूप ज्ञानका उपदेश करता है। इसलिए यह नि शकरूपसे मानना चाहिए कि जिसने नव-तत्त्वका अनन्तभाव भेदसे जान लिया वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गया।

इन नौ तत्त्वोको त्रिपदीकी अपेक्षासे घटित करना योग्य है। हेय, ज्ञेय और उपादेय अर्थात् त्याग करने योग्य, जानने योग्य और ग्रहण करने योग्य—ये तीन भेद नव-तत्त्वस्वरूपके विचारमे निहित हैं।

प्रश्न—जो त्यागने योग्य है उसे जानकर क्या करना है? जिस गाँवको जाना नही है उसका मार्ग पूछनेसे क्या प्रयोजन?

उत्तर—तुम्हारी इस शकाका समाधान सहजमे ही हो सकता है। त्यागने-योग्यको भी जानना आवश्यक है। सर्वज्ञ भी सर्व प्रकारके प्रपचोको जान रहे हैं। त्यागने-योग्य वस्तुको जाननेका मूलतत्त्व यह है कि जो उसे नही जाना हो तो अत्याज्य समझकर किसी समय सेवन हो जाय। एक गाँवसे दूसरे गाँव पहुँचने तक मार्गमे जो-जो गाँव आते हैं उनका मार्ग भी पूछना पडता है, अन्यथा जहाँ जाना है वहाँ नही पहुँचा जा सकेगा। जैसे वे गाँव पूछे परन्तु वहाँ निवास नही किया, उसी प्रकार पापादिक तत्त्वोको जानना तो चाहिए किन्तु उन्हे ग्रहण नही करना चाहिए। जैसे मार्गमे आनेवाले अन्य गाँवोका त्याग किया, उसी प्रकार उनका भी त्याग करना आवश्यक है।

शिक्षापाठ : ८४ तत्त्वावबोध--भाग ३

नव-तत्त्वका कालभेदसे जो सत्पुरुष गुरुगम्यतासे श्रवण, मनन और निदिध्यासनपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते है वे सत्पुरुष महा पुण्यशाली और धन्यवादके पात्र है। प्रत्येक सुज्ञ पुरुपोको मेरा विनयभावभूषित यही उपदेश है कि वे नव-तत्त्वको अपनी बुद्धिके अनुसार यथार्थ जाने।

महावीर भगवान्के शासनमे बहुतसे मतमतान्तर पड गये है। उसका एक मुख्य कारण यह भी है कि तत्त्वज्ञानकी ओरसे उपासकवर्गका लक्ष फिर गया। वे लोग केवल क्रियाभावमे ही लगे रहे, जिसका परिणाम दृष्टिगोचर है। वर्तमान खोजमें आई हुई पृथ्वीकी आवादी लगभग डेढ अरव गिनी जाती है, उसमे सब गच्छोको मिलाकर जैन लोग केवल बीस लाख है। ये लोग श्रमणोपासक है। इनमेसे मै अनुमान करता हूँ कि दो हजार पुरुप भी शायद ही नव-तत्त्वको पढना जानते होगे। मनन और विचार पूर्वक जाननेवाले पुरुष तो उँगलियो पर गिनने लायक भी नही होगे। तत्त्व-ज्ञानकी जव ऐसी पतित स्थिति हो गई है तभी मतमतान्तर वढ गये है। एक लौकिक कहावत है कि "सौ स्याने एक मत" इसी तरह अनेक तत्त्वविचारक पुरुषोके मतमें बहुधा भिन्नता नही आती।

इन नव-तत्त्व-विचारके सम्बन्धमे प्रत्येक मुनिसे मेरा निवेदन है कि वे विवेक और गुरुगम्यतासे इसके ज्ञानको विशेष वृद्धिगत करे। इससे उनके पवित्र पाँच महाव्रत दृढ होगे, जिनेश्वरके वचनामृतके अनुपम आनन्दका प्रसाद मिलेगा, मुनित्व-आचार पालन करनेमे सरल हो जायेगा; ज्ञान और क्रियाके विशुद्ध रहनेसे सम्यक्त्वका उदय होगा; और परिणामत संसारका अन्त हो जायेगा।

शिक्षापाठ ८५ · तत्त्वावबोध—भाग ४

जो श्रमणोपासक नव तत्त्वोको पढना भी नही जानते उन्हे वह अवश्य जान लेना चाहिए। जाननेके वाद अधिकाधिक मनन करना चाहिए। जितना समझमे आ सके उतने गम्भीर आशयको गुरुगम्यतासे सद्भावपूर्वक समझना चाहिए। इससे आत्मज्ञान उज्वलताको प्राप्त होगा और यम, नियम आदिका पालन होगा।

नव-तत्त्वका अभिप्राय किसी ऐसी पुस्तकसे नही है कि जिसमे नव-तत्त्वकी सामान्य वात गूँथी गई हो किन्तु जिस-जिस स्थल पर जिन-जिन विचारोंको ज्ञानियोने प्रणीत किया है वे सब विचार नव-तत्त्वोमेंसे किसी न किसी एक दो अथवा विशेष तत्त्वोके होते हैं। केवली भगवान्‌ने इन श्रेणियोंसे सम्पूर्ण जगत-मडल दिखा दिया है। इससे जैसे-जैसे नय आदिके भेदसे यह तत्त्व-ज्ञान प्राप्त होगा वैसे-वैसे अपूर्व आनन्द और निर्मलताकी प्राप्ति होगी, मात्र विवेक, गुरुगम्यता और अप्रमाद होना चाहिए। मुझे यह नव-तत्त्वज्ञान वहुत प्रिय है और इसके रसानुभवी भी मुझे सदा प्रिय हैं।

काल-भेदसे इस समय भरतक्षेत्रमे मात्र मति और श्रुत ये दो ज्ञान ही विद्यमान हैं, शेप तीन ज्ञान परम्पराम्नायसे दिखाई नही देते, तथापि जैसे-जैसे पूर्ण श्रद्धाभावपूर्वक इन नव-तत्त्वज्ञानके विचारोकी गुफामे उतरते जाते हैं त्यो-त्यो उसके भीतर अद्भुत आत्म प्रकाश, आनन्द, समर्थ तत्त्व-ज्ञानकी स्फुरणा उत्तम विनोद और गम्भीर चमक आश्चर्यमे डालकर वे विचार शुद्ध सम्यग्ज्ञानका प्रचुर उदय करते हैं। यद्यपि इस कालमे स्याद्वादवचनामृतके अनन्त सुन्दर आशयोको समझनेकी परम्परागत शक्ति इस क्षेत्रसे विच्छिन्न हो गई है तथापि तत्सम्बन्धी जो-जो सुन्दर आशय समझमे आते हैं वे आशय अत्यत गम्भीर तत्त्वोंसे भरे हुए हैं। उन आशयोका पुन-पुन मनन करनेसे चार्वाकमतिके चचल मनुष्य भी सद्धर्ममे स्थिर

हो जाँय ऐसा है। साराश यह है कि सब प्रकारकी सिद्धि, पवित्रता, महाशील, निर्मल गहन और गम्भीर विचार तथा स्वच्छ वैराग्यकी भेट इस तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होते हैं।

शिक्षापाठ ८६ : तत्त्वाववोध—भाग ५

एक वार एक समर्थ विद्वान्‌के साथ निर्ग्रंथ प्रवचनकी चमत्कृतिके सम्बन्धमें मेरी चर्चा हुई। इस सम्बन्धमे उस विद्वान्‌ने कहा कि मैं इतना तो मानता हूँ कि महावीर एक समर्थ तत्त्वज्ञानी पुरुष थे, उन्होने जो उपदेश दिया उसे ग्रहण करके प्रज्ञावन्त पुरुषोने अग उपागकी रचना की है, और उनके जो विचार हैं वे चमत्कृतिसे परिपूर्ण हैं किन्तु उससे मैं यह नही कह सकता कि इनमे समस्त सृष्टिका ज्ञान निहित है। फिर भी यदि आप इस सम्बन्धमे कोई प्रमाण देते हो तो मैं इस वात पर कुछ श्रद्धा कर सकता हूँ।

इसके उत्तरमे मैने उनसे कहा कि मै जैन वचनामृतको यथार्थ तो क्या, अपितु विशेष भेद करके भी नही जानता, तथापि जो कुछ सामान्य भावसे जानता हूँ उससे भी प्रमाण अवश्य दे सकता हूँ। इसके वाद नव-तत्त्वविज्ञानके सम्बन्धमे चर्चा चली। मैने उनसे कहा कि इसमें समग्र सृष्टिका ज्ञान आ जाता है, किन्तु यथार्थ समझनेकी शक्ति होनी चाहिए। उन्होने मेरे इस कथनका प्रमाण मांगा। तव मैंने उन्हे आठ कर्मोंके नाम गिनाये; साथ ही यह भी सूचित किया कि इनके अतिरिक्त इनसे भिन्न भावको दिखानेवाला कोई नौवाँ कर्म आप ढूँढ निकालिए और पाप तथा पुण्यकी प्रकृतियोंका निर्देश करके मैने कहा कि इनके अतिरिक्त एक भी अधिक प्रकृति आप ढूँढ दें। इस प्रकार कहते हुए वातको अनुक्रमसे ली। सर्व प्रथम मैंने जीवके भेद वतलाकर पूछा कि क्या आप इनमे कुछ न्यूनाधिक कहना चाहते हैं? और अजीव द्रव्यके भेद वताकर पूछा कि क्या आप इससे कुछ और विशेष कह सकते है? इसी प्रकार

शिक्षापाठ ८५ : तत्त्वावबोध—भाग ४

जो श्रमणोपासक नव तत्त्वोंको पढ़ना भी नहीं जानते उन्हें
यह अवश्य जान लेना चाहिए। जाननेके बाद अधिकाधिक मनन
करना चाहिए। जितना समझमें आ सके उतने गम्भीर आशयको
गुरुगम्यतासे सद्भावपूर्वक समझना चाहिए। इससे आत्मज्ञान
उज्ज्वलताको प्राप्त होगा और यम, नियम आदिका पालन होगा।

नव-तत्त्वका अभिप्राय किसी ऐसी पुस्तकसे नहीं है कि जिसमें
नव-तत्त्वका सामान्य ज्ञान गूँथी गई हो किन्तु जिस-जिस स्थल पर
जिन-जिन विचारोंको ज्ञानियोंने प्रणीत किया है वे सब विचार नव
तत्त्वोंमेंसे किसी न किसी एक दो अथवा विशेष तत्त्वोंके होते हैं
केवली भगवान्ने इन श्रेणियोंमें सम्पूर्ण जगत-मंडल दिखा दिया
है। इससे जैसे-जैसे नय आदिके भेदसे यह तत्त्व-ज्ञान प्राप्त होगा
वैसे-वैसे अपूर्व आनन्द और निर्मलताकी प्राप्ति होगी, मात्र विवेक,
गुरुगम्यता और अप्रमाद होना चाहिए। मुझे यह नव-तत्त्वज्ञान
बहुत प्रिय है और इसके रसानुभवी भी मुझे सदा प्रिय हैं।

काल-भेदसे इस समय भरतक्षेत्रमें मात्र मति और श्रुत ये
दो ज्ञान ही विद्यमान हैं, शेष तीन ज्ञान परम्पराम्नायसे दिखाई
नहीं देते, तथापि जैसे-जैसे पूर्ण श्रद्धाभावपूर्वक इन नव-तत्त्वज्ञानके
विचारोंकी गुफामें उतरते जाते हैं त्यों-त्यों उसके भीतर अद्भुत
आत्म प्रकाश, आनन्द, समर्थ तत्त्व-ज्ञानकी स्फुरणा उत्तम विनोद
और गम्भीर चमक आश्चर्यमें डालकर वे विचार शुद्ध सम्यग्ज्ञानका
प्रचुर उदय करते हैं। यद्यपि इस कालमें स्याद्वादवचनामृतके अनन्त
सुन्दर आशयको समझनेकी परम्परागत शक्ति इस क्षेत्रसे विच्छिन्न
हो गई है तथापि तत्सम्बन्धी जो-जो सुन्दर आशय समझमें आते हैं
वे आशय अत्यन्त गम्भीर तत्त्वोंसे भरे हुए हैं। उन आशयोंका पुन:
पुन: मनन करनेसे चार्वाकमतिके चंचल मनुष्य भी सद्धर्ममें स्थिर

हो जाँय ऐसा है। साराश यह है कि सब प्रकारकी सिद्धि, पवित्रता, महाशील, निर्मल गहन और गम्भीर विचार तथा स्वच्छ वैराग्यकी भेंट इस तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होते है।

शिक्षापाठ ८६ : तत्त्वावबोध—भाग ५

एक वार एक समर्थ विद्वान्‌के साथ निर्ग्रंथ प्रवचनकी चमत्कृति-के सम्बन्धमे मेरी चर्चा हुई। इस सम्बन्धमे उस विद्वान्‌ने कहा कि मैं इतना तो मानता हूँ कि महावीर एक समर्थ तत्त्वज्ञानी पुरुष थे, उन्होने जो उपदेश दिया उसे ग्रहण करके प्रज्ञावन्त पुरुषोने अग उपागकी रचना की है, और उनके जो विचार है वे चमत्कृतिसे परिपूर्ण हैं किन्तु उससे मै यह नही कह सकता कि इनमे समस्त सृष्टिका ज्ञान निहित है। फिर भी यदि आप इस सम्बन्धमे कोई प्रमाण देते हो तो मैं इस बात पर कुछ श्रद्धा कर सकता हूँ।

इसके उत्तरमे मैने उनसे कहा कि मै जैन वचनामृतको यथार्थ तो क्या, अपितु विशेष भेद करके भी नही जानता, तथापि जो कुछ सामान्य भावसे जानता हूँ उससे भी प्रमाण अवश्य दे सकता हूँ। इसके बाद नव-तत्त्वविज्ञानके सम्बन्धमे चर्चा चली। मैने उनसे कहा कि इसमे समग्र सृष्टिका ज्ञान आ जाता है, किन्तु यथार्थ समझनेकी शक्ति होनी चाहिए। उन्होने मेरे इस कथनका प्रमाण माँगा। तब मैने उन्हे आठ कर्मोंके नाम गिनाये, साथ ही यह भी सूचित किया कि इनके अतिरिक्त इनसे भिन्न भावको दिखानेवाला कोई नौवाँ कर्म आप ढूँढ निकालिए और पाप तथा पुण्यकी प्रकृतियों-का निर्देश करके मैने कहा कि इनके अतिरिक्त एक भी अधिक प्रकृति आप ढूँढ दें। इस प्रकार कहते हुए बातको अनुक्रमसे ली। सर्व प्रथम मैने जीवके भेद बतलाकर पूछा कि क्या आप इनमे कुछ न्यूनाधिक कहना चाहते है? और अजीव द्रव्यके भेद बताकर पूछा कि क्या आप इससे कुछ और विशेष कह सकते है? इसी प्रकार

जब नव-तत्त्व सम्बन्धी चर्चा हुई तो उन्होंने थोड़ी देर विचार करके कहा कि—यह तो महावीरके कथनकी अद्भुत चमत्कृति है कि जीवका एक भी नया भेद नहीं मिलता। इसी प्रकार पाप पुण्य आदिकी एक भी विशेष प्रकृति नहीं मिलती और नौवाँ कर्म भी नहीं मिलता। सच तो यह है कि यह बात मेरे ध्यानमें ही नहीं थी कि जैनदर्शनमें ऐसे-ऐसे तत्त्वज्ञानके सिद्धान्त पाये जाते हैं। इसमें समस्त सृष्टिका तत्त्वज्ञान कुछेक अंशोंमें अवश्य आ सकता है।

शिक्षापाठ ८७ : तत्त्वावबोध—भाग ६

इस ओरसे इसका उत्तर यह दिया गया कि—अभी जो आप इतना कह रहे हैं वह भी तबतक है जबतक कि आपके हृदयमें जैनदर्शनके तत्त्वविचार नहीं आये हैं, किन्तु मैं मध्यस्थतापूर्वक सच कहता हूँ कि इसमें जो विशुद्ध ज्ञान बताया गया है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है और सर्वमतोंने जो ज्ञान बतलाया है वह महावीर-के तत्त्वज्ञानके एक भागमें आ जाता है। इनका कथन स्याद्वाद है, एकपक्षीय नहीं।

आपने कहा है कि इसमें कुछेक अंशोंमें सृष्टिका तत्त्वज्ञान अवश्य आ सकता है, परन्तु यह मिश्रवचन है। हमारे समझानेकी अप-टुतासे ऐसा अवश्य हो सकता है, किन्तु ऐसी बात नहीं है कि इन तत्त्वोंमें कोई अपूर्णता है। यह कोई पक्षपातमय कथन नहीं है। विचार करनेपर सम्पूर्ण सृष्टिमेंसे इनके अतिरिक्त कोई दसवाँ तत्त्व खोजनेपर कभी भी मिलनेवाला नहीं है। इस सम्बन्धमें यथा-प्रसंग जब हमारी बातचीत और मध्यस्थ चर्चा होगी तब निःशंकता हो जायेगी।

उन्होंने इसके उत्तरमें कहा कि इस परसे मुझे इतना तो नि-स्सन्देह है कि जैनदर्शन एक अद्भुत दर्शन है। आपने जो मुझे श्रेणी

पूर्वक नवतत्त्वोके कुछ भाग कह बतलाए हैं इससे मै यह बेधड़क कह सकता हूँ कि महावीर गुप्त भेदको प्राप्त एक महापुरुष थे। इस प्रकार थोडी-सी बात करके "उपन्नेवा", "विघनेवा", "धुवेवा" यह लब्धि वाक्य उन्होने मुझे कहा। यह कहनेके बाद उन्होने यह बतलाया कि इन शब्दोके सामान्य अर्थमे तो कोई चमत्कृति दिखाई नही देती। उत्पन्न होना, नाश होना और अचलता, यही इन तीन शब्दोंका अर्थ है किन्तु श्रीमान् गणधरोने तो ऐसा दर्शित किया है कि इन वचनोको गुरुमुखसे श्रवण करनेपर पहलेके भाविक शिष्यो-को द्वादशागका आशयपूर्ण ज्ञान हो जाता था। इसके लिए मैने बहुत कुछ विचार करके देखा फिर भी मुझे ऐसा लगा कि ऐसा होना असम्भव है, क्योकि अत्यन्त सूक्ष्म माना गया सैद्धातिक ज्ञान इसमे कहाँसे समा सकता है? क्या इस सम्बन्धमें आप कुछ विशेष विचार प्रगट कर सकेंगे?

शिक्षापाठ ८८ : तत्त्वावबोध—भाग ७

इसके उत्तरमें मैंने कहा कि इस कालमे तीन महाज्ञान परम्प-राम्नायसे भारतमे दिखाई नही देते, तथापि मै कोई सर्वज्ञ अथवा महाप्रज्ञावान नही हूँ, फिर भी मेरा जितना सामान्य लक्ष्य पहुँच सकेगा उतना पहुँचाकर कुछ समाधान कर सकूँगा, ऐसा मुझे सभव लगता है। तब उन्होने कहा कि यदि ऐसा सम्भव हो तो यह त्रि-पदी जीवपर 'ना' और 'हाँ' के विचारसे घटित कीजिए। वह यों कि क्या जीव उत्पत्तिरूप है? नही। क्या जीव व्ययरूप है? नहीं। क्या जीव ध्रौव्यरूप है? नही। इस प्रकार एक बार घटाइए। और दूसरी बार—क्या जीव उत्पत्तिरूप है? हाँ। क्या जीव व्ययरूप है? हाँ। क्या जीव ध्रौव्यरूप है? हाँ। इस प्रकार घटाइए।

ये विचार सम्पूर्ण मंडलने एकत्र करके योजित किए है यदि

इन्हे यथार्थ न कह सके तो अनेक प्रकारसे दूपण आ सकते है। यदि वस्तु व्ययरूप हो तो वह ध्रुवरूप नही हो सकती,—यह पहली शका। यदि उत्पत्ति, व्यय और ध्रौव्यता नही है तो जीवको किन प्रमाणोंसे सिद्ध करोगे ? यह दूसरी शका। व्यय और ध्रुवतामे परस्पर विरोधाभास है, यह तीसरी शका। यदि जीव केवल ध्रुव है तो उत्पत्तिमे जो 'हाँ' कहा है वह असत्य और चौथा विरोध। यदि उत्पन्न युक्त जीवका ध्रुव-भाव कहोगे तो उसे किसने उत्पन्न किया ?—यह पाचवाँ विरोध। इससे इसकी अनादिता समाप्त हो जाती है,—यह छठी शका। यदि यह कहो कि केवल ध्रुव व्ययरूप है तो चार्वाकमिश्र वचन हुआ,—यह सातवाँ दोप। यदि उत्पत्ति और व्ययरूप कहोगे तो यह केवल चार्वाकका सिद्धान्त कहा जायेगा—यह आठवाँ दोप। उत्पत्तिका अभाव, व्ययका अभाव और ध्रुवताका अभाव कह कर, फिर तीनोका अस्तित्व कहना, इनके पुन रूपमे छ दोप। इस तरह कुल मिला कर चौदह दोप हुए। मात्र ध्रुवताको अलग कर देनेपर तीर्थंकरके वचन खडित हो जाते है,—यह पन्द्रहवाँ दोप। उत्पत्ति ध्रुवता लेनेपर कर्त्ताकी सिद्धि होती है इससे सर्वज्ञ-वचन खडित हो जाते है,—यह सोलहवाँ दोप। यदि उत्पत्ति व्ययरूपमे पाप पुण्य आदिका अभाव मान ले तो धर्माधर्म सबका लोप हो जायेगा,—यह सत्तरहवाँ दोप। उत्पत्ति, व्यय और सामान्य स्थितिसे (केवल अचल नही) त्रिगुणात्मक माया सिद्ध होती है,—यह अठारहवाँ दोप।

शिक्षापाठ ८९ : तत्त्वावबोध—भाग ८

यह कथन सिद्ध नही होनेपर इतने दोप आते है। एक जैन मुनिने मुझसे और मेरे मित्रमण्डलसे यो कहा था कि—जैन सप्त भगी नय अपूर्व है, और इससे सर्व पदार्थ सिद्ध होते है। नास्ति अस्ति-नास्तिके अगम्यभेद विद्यमान है। यह कथन सुनकर ह

सब घर आये और फिर योजना करते-करते इस लब्धिवाक्यको जीवपर योजित किया। मै समझता हूँ कि ऐसे अस्ति-नास्तिके दोनो भाव जीवपर घटित नही हो सकते, इसलिए लब्धिवाक्य भी क्लेशरूप हो पडेगे। यद्यपि इस ओर मेरी कोई तिरस्कारकी दृष्टि नही है।

इसके उत्तरमे मैने कहा कि आपने जो अस्ति और नास्ति नयको जीवपर घटित करना चाहा है वह सनिक्षेप शैलीसे नही है, अर्थात् कभी इसमेसे ऐकान्तिक पक्ष भी लिया जा सकता है। और फिर मैं कोई स्याद्वाद—शैलीका यथार्थ ज्ञाता भी तो नही हूँ, मै तो मन्दबुद्धिसे यत्किंचित् जानता हूँ। आपने अस्ति-नास्ति नयको भी शैलीपूर्वक घटित नही किया है। इसलिए मै तर्कपूर्वक जो उत्तर दे सकता हूँ उसे आप सुनिए।

उत्पत्तिमे जो 'नास्ति'की योजना की है वह इस प्रकार यथार्थ हो सकती है कि "जीव अनादि अनन्त है।" और व्ययमे जो 'नास्ति'की योजना की है वह इस प्रकार यथार्थ हो सकती है कि "इसका किसी कालमे नाश नही होता।" तथा ध्रुवत्वमे जो 'नास्ति' की योजना की है वह इस प्रकार यथार्थ हो सकती है कि "वह एक शरीरमे सदाके लिए रहनेवाला नही है।"

शिक्षापाठ ९० : तत्त्वावबोध—भाग ९

उत्पत्तिमे 'अस्ति'की जो योजना की है वह इस प्रकार यथार्थ हो सकती है कि "जीवका मोक्ष होने तक वह एक शरीरमेसे च्युत होकर दूसरे शरीरमे उत्पन्न होता है।"

व्ययमे 'अस्ति'की जो योजन की है वह इस प्रकार यथार्थ हो सकती है कि 'वह जिस शरीरमेसे आया है वहाँसे व्ययको प्राप्त हुआ है। अथवा इसकी आत्मिक रिद्धि विषयादिक प्रतिक्षण मरणसे रुकी हुई है' इस प्रकार व्ययको घटित कर सकते है।

ध्रौव्यमे 'अस्ति'की जो योजना की गई है वह इस प्रकार यथार्थ हो सकती हैं कि "द्रव्यकी अपेक्षासे जीव किसी भी कालमे नाशको प्राप्त नही होता, वह त्रिकाल सिद्ध है।"

मै समझता हूँ कि इस प्रकारसे लगाये गए दोष भी दूर हो जाएँगे ।

१—जीव व्ययरूपसे नही है, इसलिए ध्रौव्य सिद्ध हुआ। यह पहला दोष दूर हुआ।

२—उत्पत्ति, व्यय और ध्रौव्य न्यायसे भिन्न-भिन्न सिद्ध हो गए, इसलिए जीवका सत्यत्व सिद्ध हो गया। इस प्रकार यह दूसरा दोष दूर हुआ।

३—जीवकी सत्यस्वरूपसे ध्रुवता सिद्ध हुई इससे व्यय नष्ट हुआ। यो तीसरा दोष टल गया।

४—द्रव्यभावसे जीवकी उत्पत्ति असिद्ध हुई। यह चौथा दोष दूर हुआ।

५—जीव अनादि सिद्ध हुआ, इसलिए उत्पत्ति सम्बन्धी पाँचवाँ दोष दूर हुआ।

६—उत्पत्ति असिद्ध हुई इसलिए कर्त्ता सम्बन्धी छठा दोष दूर हुआ।

७—ध्रुवताके साथ व्ययको लेनेमे बाधा नही आती, इसलिए चार्वाकमिश्रवचनका सातवाँ दोष दूर हुआ।

८—उत्पत्ति और व्यय पृथक्-पृथक् देहमे सिद्ध हुए, इसलिए मात्र चार्वाक्सिद्धान्त नामक आठवे दोषका परिहार हो गया।

९ से १४—शकाका पारस्परिक विरोधाभास दूर जो जानेसे चौदह तकके दोष दूर हो गए।

१५—अनादि अनतता सिद्ध हो जानेपर स्याद्वादका वचन त्य सिद्ध हुआ, इस प्रकार पन्द्रहवाँ दोष दूर हुआ ।

१६—कर्ता नही है, यह सिद्ध होनेपर जिन वचनकी सत्यता सेद्ध हुई, इसलिए सोलहवे दोषका निराकरण हो गया ।

१७—धर्म, अधर्म, देह आदिका पुनरावर्तन सिद्ध होनेसे सत्रहवे ोषका परिहार हो गया ।

१८—ये सब बातें सिद्ध होनेपर त्रिगुणात्मक माया असिद्ध ोनेसे अठारवहाँ दोष दूर हो गया ।

शिक्षापाठ ९१ : तत्त्वावबोध—भाग १०

मै समझता हूँ कि इस प्रकार आपकी योजित योजनाका समाधान हो गया होगा। यह कोई यथार्थ शैली घटित नही की है; तथापि इसमे कुछ न कुछ विनोद अवश्य मिल सके ऐसा है। इसपर विशेष विवेचन करनेके लिए पर्याप्त समय चाहिए, इसलिए अधिक कुछ नही कहता; तथापि आपसे एक दो संक्षिप्त बाते कहनी हैं, यदि इससे उचित समाधान हुआ हो तो कहूँ, पश्चात् उनकी ओरसे यथेच्छ उत्तर मिला और उन्होने कहा कि आपको जो एक दो बात कहनी हो वह सहर्ष कहिए।

पश्चात् मैंने अपनी बातको संजीवित करके लब्धिके सम्बन्धमे कहा। आप इस लब्धिके सम्बन्धमे शका करे या इसे क्लेशरूप कहे, तो इन वचनोके प्रति अन्याय होता है। इसमे अत्यन्त उज्ज्वल आत्मिक शक्ति, गुरुगम्यता और वैराग्यकी आवश्यकता है। जब तक ऐसा नही होता तबतक लब्धि विषयक शंका अवश्य बनी रहेगी। किन्तु मैं समझता हूँ कि इस समय इस सम्बन्धमे कहे गये द ेशब्द निरर्थक नही होगे। वे ये हैं कि जैसे इस योजनाकोनास्ति-

अस्तिपर घटाकर देखा वैसे ही इसमे भी बहुत सूक्ष्म विचार करना है। शरीरमे शरीरकी पृथक्-पृथक् उत्पत्ति, च्यवन, विश्राम, गर्भाधान, पर्याप्ति, इन्द्रिय, सत्ता, ज्ञान, सज्ञा, आयु, विषय इत्यादि अनेक कर्म-प्रकृतियोको प्रत्येक भेदसे लेनेपर जो विचार इस लब्धिसे निकलते हैं वे अपूर्व हैं। जहाँ तक लक्ष्य पहुँचता है वहाँ तक सब विचार करते है, किन्तु द्रव्यार्थिक और भावार्थिक नयसे समस्त सृष्टिका ज्ञान इन तीन शब्दोमे निहित है। उसका विचार कोई विरला ही करता है। जब यह सद्गुरुके मुखसे पवित्र लब्धिके रूपमे प्राप्त हो सकता है तब फिर इससे द्वादशागी ज्ञान क्यो नही हो सकता ?

"जगत्" ऐसा कहनेपर जैसे मनुष्य एक घर, एक निवास, एक गाँव, एक शहर, एक देश, एक खण्ड और एक पृथ्वी आदि सबको छोडकर असख्यात द्वीप—समुद्र आदिसे परिपूर्ण वस्तुको एकदम कैसे समझ लेता है ? इसका कारण मात्र इतना ही है, कि इस शब्दकी बहुलताको उसने समझा है, अथवा उसने लक्ष्यकी अमुक बहुलताको समझ लिया है, जिससे वह "जगत्" शब्दके कहते ही इतने बडे मर्मको समझ लेता है। इसी प्रकार ऋजु और सरल सत्पात्र शिष्य निर्ग्रन्थ गुरुसे इन तीन शब्दोकी गम्यताको प्राप्त करके द्वादशागी-ज्ञान प्राप्त करते थे। इस प्रकार वह लब्धि अल्पज्ञताके कारण विवेकपूर्वक देखनेपर क्लेशरूप भी नही है।

शिक्षापाठ ९२ : तत्त्वावबोध—भाग ११

इसी प्रकार नव तत्त्वोके सम्बन्धमे है। जिस मध्यवयके क्षत्रियपुत्रने "जगत् अनादि है" ऐसा बेधडक कहकर कर्ताको उडाया होगा, उस पुरुषने क्या कुछ सर्वज्ञताके गुप्त भेदके बिना किया होगा ? इसी प्रकार जब आप इनकी निर्दोषताके सम्बन्धमे पढेगे तो निश्चयसे ऐसा विचार करेंगे कि वे परमेश्वर थे। क्योकि कर्ता नही था और

जगत् अनादि था इसलिए उसने ऐसा कहा। इनके निष्पक्ष और केवल तत्त्वमय विचारोंपर आपको अवश्य विशोधन करना योग्य है। जैनदर्शनका अवर्णवाद करनेवाले मात्र जैनदर्शनको नही समझते इसलिए वे इसके प्रति अन्याय करते है। मैं समझता हूँ कि वे अपने ममत्वमय कदाग्रहके कारण अधोगतिको प्राप्त होंगे।

इसके बाद बहुतसी बातचीत हुई और प्रसंगानुसार इस तत्त्व-पर विचार करनेका वचन लेकर मै वहाँसे सहर्ष उठा।

तत्त्वावबोधके सम्बन्धमे यह कथन कहा। अनन्त भेदोंसे भरे हुए ये तत्त्वविचार कालभेदसे जितने ज्ञेय प्रतीत हों उतने जानने, जितने ग्राह्यरूप प्रतीत हो उतने ग्रहण करने और जितने त्याज्य दिखाई दे उतने त्यागने।

जो इन तत्त्वोंको यथार्थ जानता है वह अनन्त चतुष्टयसे विराज-मान होता है, यह मै सत्यतापूर्वक कहता हूँ। इन नव तत्त्वोके नाम रखनेमे भी मोक्षकी निकटताका अर्थसूचन दिखाई देता है।

शिक्षापाठ ९३ : तत्त्वावबोध—भाग १२

यह तो आपके लक्ष्यमें है हि कि जीव, अजीवके क्रमसे अन्तिम नाम मोक्षका आता है। और यदि इसे एकके बाद एक रखकर देखें तो जीव और मोक्षको क्रमशः आदि और अन्तमें रहना पड़ेगा। जैसे —

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष।

मैने पहले कहा था कि इन नामोंके रखनेमें जीव और मोक्षकी निकटता है किन्तु यहाँ यह निकटता तो नही हुई, प्रत्युत् जीव और अजीवकी निकटता हुई। परन्तु यथार्थमे ऐसा नही है।

अज्ञानसे ही इन दोनोमे निकटता है, किन्तु ज्ञानसे जीव और मोक्ष-की निकटता है जैसे—
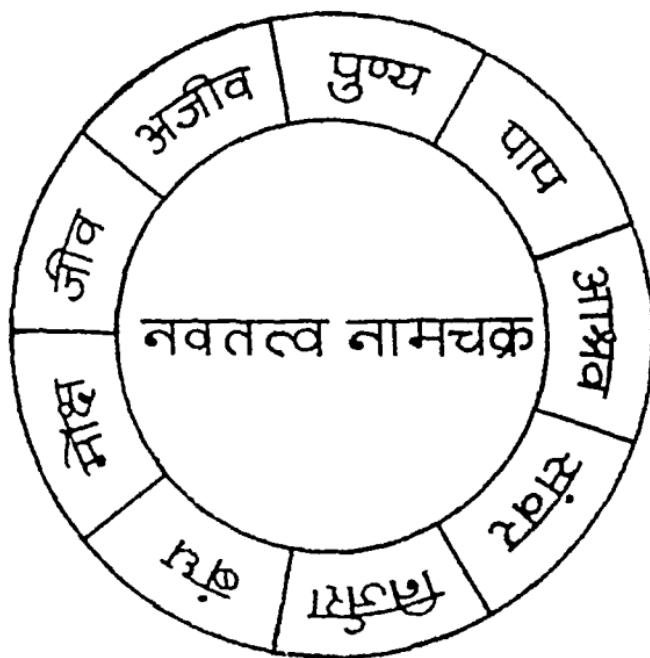
अब देखो, क्या इन दोनोमे कुछ निकटता आई है? हाँ कही हुई निकटता आ गई है। किन्तु यह निकटता तो द्रव्यरूप है। जब भावरूपमे निकटता आये तब ही सर्वसिद्धि होवे। इस निकटताका साधन सत्परमात्मतत्त्व, सद्गुरुतत्त्व और सद्धर्मतत्त्व हैं। मात्र एक ही रूप होनेके लिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र हैं।

इस चक्रसे यह भी आशका होती है कि जब दोनो निकट हैं तो क्या शेष रहे हुओको त्याग देना चाहिए? इसके उत्तरमे यह कहता हूँ कि यदि सबका त्याग हो सकता हो तो त्याग दो। इससे मोक्ष-रूप ही हो जाओगे। अन्यथा हेय, ज्ञेय और उपादेयका बोध ग्रहण करो, इससे आत्मसिद्धि प्राप्त होगी।

शिक्षापाठ ९४ : तत्त्वावबोध—भाग १३

मै यहाँ जो कुछ कह गया हूँ वह मात्र जैन कुलोत्पन्न पुरुषोके लिए ही नही, किन्तु सबके लिए है और यह भी नि शक होकर मानना कि मैं जो कुछ कहता हूँ वह निष्पक्षपात और परमार्थ बुद्धि-से कहता हूँ।

मुझे तुमसे जो धर्मतत्त्व कहना है उसे पक्षपात अथवा स्वार्थ-बुद्धिसे कहनेका मुझे कोई प्रयोजन नही है। मै तुम्हे पक्षपात अथवा स्वार्थपूर्वक अधर्मतत्त्वका उपदेश देकर अधोगतिका बध किसलिए करूँगा ? तुम्हे बारम्बार निर्ग्रन्थके वचनामृतके लिए कहता हूँ, इसका कारण यह है कि वे वचनामृत तत्त्वमे परिपूर्ण है। जिनेश्वरो-को ऐसा कोई भी कारण नही था कि जिसके निमित्तसे वे मिथ्या अथवा पक्षपातयुक्त उपदेश देते, और फिर वे अज्ञानी भी नही थे कि जिससे उनसे मिथ्या उपदेश हो जाए। अब तुम यहाँ यह आशका कर सकते हो कि यह कैसे मालूम हो कि वे अज्ञानी नही थे ? तो मै इसके उत्तरमे उनके पवित्र सिद्धान्तोके रहस्यका मनन करनेको कहूँगा और जो ऐसा करेगा वह फिर किंचित्मात्र भी शका नही करेगा। मुझे जैनमत प्रवर्तकोंने कोई दान-दक्षिणा नही दी है अथवा वे कही मेरे कुटुम्ब-परिवारवाले भी नही है कि उनके पक्ष-पातके वशीभूत होकर मै तुमसे कुछ भी कह दूँ। इसी प्रकार मेरे मनमे अन्य मत प्रवर्तकोके प्रति कोई वैर-बुद्धि भी नही है कि वृथा ही उनका खडन करूँ। मै तो दोनोके प्रति मदमति मध्यस्थरूप हूँ। बहुत-बहुत मनन करके और जहाँ तक मेरी बुद्धि पहुँची है वहाँ तक विचार करके मैं विनयपूर्वक यह कहता हूँ कि प्रिय भव्यजनो ! जैनदर्शन जैसा एक भी परिपूर्ण और पवित्र दर्शन नही है, वीतराग जैसा एक भी देव नही है, इसलिए यदि तैरकर अनत दुःख-समुद्रसे पार होना चाहते हो तो इस सर्वज्ञदर्शनरूप कल्पवृक्षका सेवन करो।

शिक्षापाठ ९५ : तत्त्वावबोध—भाग १४

जैनदर्शन इतनी अधिक सूक्ष्म विचार-सकलनाओसे भरा हुआ दर्शन है कि इसमे प्रवेश पानेके लिए भी बहुत समय चाहिए। ऊपर-ऊपरसें अथवा किसी प्रतिपक्षीके कहनेसे अमुक वस्तुके सम्बन्धमे अभिप्राय बना लेना अथवा अभिप्राय देना विवेकी पुरुषका कर्तव्य नही है। जैसे—कोई तालाब सम्पूर्ण भरा हुआ हो तो उसका पानी ऊपरसे समान मालूम होता है, किन्तु जैसे-जैसे आगे बढते जाते हैं वैसे-वैसे अधिकाधिक गहराई आती जाती है, फिर भी ऊपर तो जल सपाट ही रहता है। इसी प्रकार जगत्के सभी धर्ममत एक तालाबके समान हैं। उन्हे ऊपरसे सामान्य सपाट देखकर समान कह देना उचित नही है। ऐसा कहनेवालोने तत्त्वको प्राप्त भी नही किया है। यदि जैनधर्मके एक-एक पवित्र सिद्धान्त पर विचार करें तो आयु पूर्ण हो जायेगी तथापि पारको प्राप्त नही हो पायेंगे। अन्य सभी धर्म-मतोंके विचार जिनप्रणीत वचनामृतसिन्धुके आगे एक बिन्दुके समान भी नही हैं। जिसने जैनधर्मको जाना और सेवन किया वह वीतराग और सर्वज्ञ हो जाता है। इसके प्रवर्तक कैसे पवित्र पुरुष थे। इसके सिद्धान्त कैसे अखड, सम्पूर्ण और दयामय हैं? इसमे दूषण तो कोई भी नही हैं। केवल निर्दोष तो एकमात्र जैनदर्शन है। ऐसा एक भी पारमार्थिक विषय नही है कि जो जैन-दर्शनमे न हो और ऐसा एक भी तत्त्व नही है कि जो जैनमतमे नही है। एक विषयको अनंत भेदोसे परिपूर्ण कहनेवाला जैनदर्शन ही है। इसके समान प्रयोजनभूततत्त्व अन्यत्र कही भी नही है। जैसे एक शरीरमे दो आत्मा नही है उसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टिमे दो जैन अर्थात् जैनके समान एक भी दर्शन नही है। ऐसा कहनेका क्या कारण है? मात्र उसकी परिपूर्णता, निरागिता, सत्यता और जगत्-हितैषिता।

शिक्षापाठ ९६ : तत्त्वावबोध—भाग १५

न्यायपूर्वक मुझे भी इतना मानना चाहिए कि जब एक दर्शनको परिपूर्ण कहकर बात सिद्ध करना हो तब प्रतिपक्षकी मध्यस्थबुद्धिसे अपूर्णता दिखलानी चाहिए। किन्तु दोनो बातोपर विवेचन करनेका यहाँ स्थान नही है, तथापि थोडा-थोडा कहता आया हूँ। मुख्य रूपमे जो बात है वह यह है कि जिसे मेरी बात रुचिकर प्रतीत न होती हो और असभव मालूम होती हो उसे जैनतत्त्व-विज्ञानी शास्त्रोको और अन्य तत्त्व-विज्ञानी शास्त्रोको मध्यस्थबुद्धिसे मनन करके न्यायके काँटेपर तौलना चाहिए। इसपरसे अवश्य ही इतना महावाक्य निकलेगा कि पहले जो डकेकी चोट कहा गया था वही सच है।

जगत् भेडिया-धसानके समान है। शिक्षापाठमे धर्मके मतभेदके सम्बन्धमे जैसा बतलाया गया था उसप्रकार धर्ममतोका जाल फैला हुआ है। कोई बिरला ही विशुद्ध आत्मा होता है। और विवेकसे तत्त्वकी खोज कोई ही करता है। इसलिए मुझे इस बातका कोई भी विशेष खेद नही है कि अन्य दार्शनिक लोग जैनतत्त्वको क्यो नही जानते? और इस सम्बन्धमे कोई आशका करनेकी भी बात नही है।

तथापि मुझे बहुत आश्चर्य होता है कि केवल शुद्ध परमात्मतत्त्वको प्राप्त, सकल दूषणरहित, और जिन्हे मृषा कहनेका कोई कारण नही है ऐसे पुरुषोके द्वारा कथित पवित्र दर्शनको जिन्होने स्वय तो जाना नही है और जिन्होने अपनी आत्माका हित भी नही किया है, किन्तु वे अविवेकके कारण मतभेदमे पडकर सर्वथा निर्दोष और पवित्र दर्शनको नास्तिक क्यो कहते होगे? मै समझता हूँ कि ऐसा कहनेवाले जैनदर्शनके तत्त्वको नही जानते। उन्हे भय रहता है कि जैन तत्त्वको जान लेनेसे उनकी श्रद्धा बदल जाएगी,

तब फिर लोग उनके सम्मुख कहे गये मतको नही मानेंगे। और फिर जिस लौकिक मतके कारण अपनी आजीविका लगी हुई है ऐसे वेद आदिकी महत्ता घट जानेसे अपनी महत्ता घट जायेगी, और फिर अपना स्थापित किया हुआ मिथ्या परमेश्वरपद नही चलेगा इसलिए उनने जैनतत्त्वमे प्रवेश करनेकी रुचिको मूलत बन्द कर देनेके लिए लोगोको ऐसी भ्रम-भभूत दी है कि जैनदर्शन नास्तिक-दर्शन है। लोग तो बेचारे डरपोक भेडके समान हैं इसलिए वे विचार भी कहाँसे करें? यह कथन कितना अनर्थकारक और मिथ्या है इसे वे ही जान सकते हैं जिन्होने वीतरागप्रणीत सिद्धातको विवेक-पूर्वक जाना है। हो सकता है कि मदबुद्धि लोग मेरे इस कथनको कदाचित् पक्षपातपूर्ण माने।

शिक्षापाठ ९७ : तत्त्वावबोध—भाग १६

पवित्र जैनदर्शनको नास्तिक कहलानेमे वे लोग एक कुतर्कसे मिथ्यारूपमे ही सफलीभूत होना चाहते हैं और वह यह है कि—जैनदर्शन ईश्वरको जगत्का कर्ता नही मानता, और जो परमेश्वरको (कर्ता) नही मानता वह तो नास्तिक ही है। यह बात भद्रिक लोगोको जल्दी जम जाती है। इसका कारण यह है कि उनमे यथार्थ विचार करनेकी प्रेरणा नही होती। किन्तु इसपरसे यदि यह विचार किया जाय कि—तब फिर जैनदर्शन जगत्को अनादि-अनत किस न्यायसे कहता है? कोई जगत्-कर्ता नही है, ऐसा कहनेमे इसका कारण क्या है? इस प्रकार एकके-बाद एक भेदरूप विचार करनेसे वे जैनदर्शनकी पवित्रताकी ओर आ सकते हैं।

जगत्को रचनेकी ईश्वरको क्या आवश्यकता थी? और यदि उसे रचा भी तो उसमे सुख-दु ख स्थापित करनेका क्या कारण था और इस रचनाके बाद मौतको किसलिए बनाया? उसे यह लीला किसको बतलानी थी? जगत्को रचा तो किस कर्मसे रचा? उससे

पूर्व रचना करनेकी इच्छा क्यों नही हुई ? ईश्वर कौन है ? जगत्के पदार्थ कौनसे हैं ? और इच्छा क्या है ? यदि उसने सृष्टि-रचना की तो जगत्में एक ही धर्मकी प्रवृत्ति रखनी थी, किन्तु इस प्रकार भ्रममे डालनेकी क्या आवश्यकता थी ? यदि ऐसा मान लिया जाय कि उस बेचारेसे यह भूल हो गई तो भले हो ! हम इसे क्षमा भी कर दे, किन्तु कोई यह तो बताए कि उसे यह अधिक चतुराई कहाँसे सूझी कि उसे ही जडमूलसे उखाडनेवाले महावीर जैसे पुरुषोंको उसने जन्म दिया ? और फिर इनके कहे हुए दर्शनका जगत्मे अस्तित्त्व क्यो बना रहने दिया ? अपने ही हाथसे अपने पाँवपर कुल्हाडी मारनेकी उसे क्या आवश्यकता थी ? एक तो मानो इस प्रकारके विचार और अन्य दूसरे प्रकारके ये विचार कि जैन-दर्शनके प्रवर्त्तकोको क्या इससे कोई द्वेष था ? यदि वह जगत्कर्ता होता तो ऐसा कहनेसे इनके लाभको कोई हानि पहुँचती थी ? कोई जगत्कर्ता नही है और जगत् अनादि-अनंत है ऐसा कहनेमें क्या इन्हे कोई महत्ता मिल जानेवाली थी ? इस प्रकार अनेक विचारों-पर विचार करनेसे ज्ञात होगा कि जगत्का जैसा स्वरूप था वैसा ही पवित्र पुरुषोने कहा है। इससे भिन्न रूपमे कहनेका उनका लेश-मात्र प्रयोजन नही था।

जिन्होंने सूक्ष्मसे सूक्ष्म जंतुओंकी रक्षा करनेका विधान बताया और जिन्होंने एक रजकणसे लेकर समस्त जगत्के विचार सम्पूर्ण भेदोंके साथ कहे है ऐसे पुरुषोंके पवित्र दर्शनको नास्तिक कहनेवाले किस गतिको प्राप्त होगे यह विचार करते उनपर दया आती है।

शिक्षापाठ ९८ : तत्त्वावबोध—भाग १७

जो व्यक्ति न्यायसे विजय प्राप्त नही कर सकता वह बादमे गालियाँ देने लगता है। इसी प्रकार जब शंकराचार्य और दयानन्द सन्यासी इत्यादि जैनदर्शनके अखण्डतत्त्व सिद्धान्तोका खण्डन नही

कर सके तब फिर उन्होने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि "जैन नास्तिक है, जैनधर्म चार्वाकमेसे उत्पन्न हुआ है।" किन्तु यहाँ कोई प्रश्न करे कि महाराज ! यह बात तो आप बादमे करना, क्योकि ऐसी बातोको करनेमे किसी समय, विवेक अथवा ज्ञानकी आवश्यकता नही होती, किन्तु आप पहले इस बातका उत्तर दे कि जैनदर्शन वेदसे किस बातमे कम है ? इसका ज्ञान, इसका बोध, इसका रहस्य और इसका सत्शील कैसा है ? एकबार इस सम्बन्धमें कुछ कहो तो आपके वेद-विचार किस सम्बन्धमे जैनदर्शनसे बढकर हैं ? इस प्रकार जब बात मर्मस्थल पर आती है तब उनके पास केवल मौनके अतिरिक्त दूसरा कोई साधन नही रहता। जिन सत्पुरुषोंके वचनामृत और योगबलसे इस सृष्टिमे सत्य, दया, तत्त्वज्ञान और महाशील उदयको प्राप्त होते हैं, उन पुरुषोकी अपेक्षा जो पुरुष शृंगारमे रचे-पचे पडे हैं, सामान्य तत्त्वज्ञानको भी नही जानते और जिनका आचार भी पूर्ण नही है उन्हे ऊँचा कहना अथवा परमेश्वरके नामसे स्थापित करना और सत्यस्वरूपकी निंदक भाषा बोलना तथा परमात्मस्वरूपको प्राप्त पुरुषोको नास्तिक कहना—यह सब इनकी कितनी बडी कर्मकी बहुलताको सूचित करती है ! किन्तु जगत् मोहाध है। जहाँ ऐसे मतभेद होते हैं वहाँ अन्धकार होता है। जहाँ ममत्व अथवा राग होता है वहाँ सत्यतत्त्व नही होता। इन बातोपर हमे क्यो विचार नही करना चाहिए ?

मैं तुम्हे एक मुख्य बात कहता हूँ जो ममत्त्वरहित और न्यायपूर्ण है। वह यह है कि तुम चाहे जिस दर्शनको मानो, जो भी तुम्हारी दृष्टिमे आये उस प्रकार जैनदर्शनको कहो। सभी दर्शनोंके शास्त्रतत्त्वको देखो और जैनतत्त्वको भी देखो। और फिर स्वतन्त्र आत्मिक शक्तिसे जो योग्य लगे उसे स्वीकार करो। भले ही मेरी बातको अथवा दूसरोकी बातको एकदम स्वीकार मत करो किन्तु तत्त्वका विचार करो।

शिक्षापाठ ९९ : समाजकी आवश्यकता

आंग्लदेशवासियोने अनेक सासारिक कलाकौशलमे किस कारणसे विजय प्राप्तकी है? यह विचार करनेपर हमे तत्काल ज्ञात हो जायेगा कि उनका अति उत्साह और उस उत्साहमे अनेकोका सहयोग कारण है। कलाकौशलके इस उत्साहपूर्ण काममे उन अनेक पुरुषोके द्वारा स्थापित सभा अथवा समाजने क्या फल प्राप्त किया? तो इसके उत्तरमे कहा जायेगा कि लक्ष्मी कीर्ति और अधिकार। इस उदाहरणसे मै उस जातिके कलाकौशलकी खोज करनेका उपदेश नही देता, किन्तु मै यह कहना चाहता हूँ कि—सर्वज्ञ भगवान्‌के द्वारा प्रतिपादित गुप्ततत्त्व प्रमाद-स्थितिमे आ पडा है, उसे प्रकाशित करनेके लिए तथा पूर्वाचार्योके द्वारा गूँथे गए महान् शास्त्रोको एकत्र करनेके लिए, चले आ रहे गच्छोके मतमतातरको दूर करनेके लिए तथा धर्म-विद्याको प्रफुल्लित करनेके लिए सदाचारी श्रीमान् और विद्वान् दोनोंको मिलकर एक महान् समाजकी स्थापना करनेकी आवश्यकता है। जबतक पवित्र स्याद्वाद्मतके आच्छादित तत्त्वोको प्रसिद्धिमे लानेका प्रयास नही होगा तबतक शासनकी उन्नति नही हो सकेगी। सासारिक कलाकौशलसे लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार प्राप्त होते है, किन्तु इस धर्म कला-कौशलसे तो सर्वसिद्धि प्राप्त होगी। महान् समाजके अन्तर्गत उपसमाजोकी भी स्थापना करना चाहिए। किसी एक साम्प्रदायिक घेरेमे बैठे रहनेकी अपेक्षा मतमतातरोको छोडकर ऐसा करना उचित है। मै चाहता हूँ कि इस उद्देश्यकी सिद्धि होकर जैनोके अन्तर्गच्छ—मतभेद दूर हो, मानव समाजका लक्ष्य सत्यवस्तुपर जाये तथा ममत्व दूर हो।

शिक्षापाठ १०० मनोनिग्रहके विघ्न

वारम्बार जो उपदेश दिया गया है उसमेंसे जो मुख्य तात्पर्य निकलता है वह यह है कि आत्माका उद्धार करो और इसके लिए

तत्वज्ञानका प्रकाश करो तथा सत्शीलका सेवन करो। इसकी प्राप्तिके लिये जो-जो मार्ग बतलाये गये हैं वे सब मार्ग मनोनिग्रहत्वके आधीन हैं और मनोनिग्रहत्वके लिये लक्षकी बहुलताका होना अत्यावश्यक है। इस लक्ष्य-बहुलताकी प्राप्तिमे निम्नलिखित दोष विघ्नरूप हैं—

१	आलस्य	२	अनियमित निद्रा
३	विशेष आहार	४	उन्माद प्रकृति
५	माया प्रपच	६	अनियमित काम
७	अकरणीय विलास	८	मान
९	मर्यादासे अधिक काम	१०	आत्म प्रशसा
११	तुच्छ वस्तुमे आनन्द	१२	रसगारवलुब्धता
१३	अतिभोग	१४	दूसरेका अनिष्ट चाहना
१५	निष्कारण कमाई	१६	बहुतोका स्नेह
१७	अयोग्य स्थानमे जाना		
१८	एक भी उत्तम नियमको साध्य नही करना		

जबतक इन अठारह विघ्नोके साथ मनका सम्बन्ध है तबतक अठारह पापस्थानक क्षय नही होगे। इन अठारह दोषोके नष्ट होनेपर मनोनिग्रहत्व और अभीष्टसिद्धि हो सकती है। जबतक इन दोषोकी मनसे निकटता है तबतक कोई भी मनुष्य आत्मसार्थकता नही कर सकता। अतिभोगके स्थानपर मात्र सामान्य भोग ही नही, परन्तु जिसने सर्वथा भोगत्यागव्रतको धारण किया है, तथा जिसके हृदयमे इनमेसे एक भी दोषका मूल नही है वह सत्पुरुष महान् भाग्यशाली है।

शिक्षापाठ १०१ स्मृतिमे रखने योग्य महावाक्य

१—एक प्रकारसे नियम ही इस जगत्का प्रवर्तक है।

२—जो पुरुष सत्पुरुषोंके चरित्ररहस्यको प्राप्त कर लेता है वह परमेश्वर बनता है।

३—चचल चित्त सब विषम दु खोकी जड है।

४—बहुतोंसे मिलाप और थोडोके साथ अति समागमये दोनों समान दुखदायक हैं।

५—समस्वभावीके मिलनेको ज्ञानी लोग एकांत कहते है।

६—इन्द्रियाँ तुम्हे जीते और तुम सुख मानो, इसकी अपेक्षा तुम इन्द्रियोको जीतनेमें ही सुख आनन्द और परमपद प्राप्त करोगे।

७—रागके बिना ससार नही और ससारके बिना राग नही।

८—युवावस्थाका सर्वसगपरित्याग परमपदको देता है।

९—उस वस्तुके विचारमें पहुँचो कि जो वस्तु अतीन्द्रिय-स्वरूप है।

१०—गुणियोंके गुणोमे अनुरक्त होओ।

शिक्षापाठ १०२ : विविध प्रश्न—भाग १

आज मै तुमसे बहुतसे प्रश्न निर्ग्रन्थ-प्रवचनके अनुसार उत्तर देनेके लिए पूछता हूँ।

प्र०—कहो धर्मकी क्या आवश्यकता है ?

उ०—अनादिकालीन आत्माके कर्मजाल काटनेके लिए।

प्र०—पहले जीव या कर्म ?

उ०—दोनो ही अनादि है। यदि जीव पहले हो तो इस विमल वस्तु कोमल चिपटनेमे कोई निमित्त चाहिए। यदि कर्मको पहले कहो तो जीवके विना कर्म किए किसने ? इस न्यायसे दोनो ही अनादि है।

प्र०—जीव रूपी है अथवा अरूपी ?

उ०—रूपी भी है और अरूपी भी है।

प्र०—रूपी किस न्यायसे और अरूपी किस न्यायसे ? यह कहो।

उ०—देहके निमित्तसे रूपी है और अपने स्वरूपसे अरूपी है।

प्र०—देह निमित्त किस कारणसे है ?

उ०—अपने कर्मोंके विपाकसे।

प्र०—कर्मोंकी मुख्य प्रकृतियाँ कितनी है ?

उ०—आठ हैं।

प्र०—कौन-कौन सी ?

उ०—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र, आयु और अतराय।

प्र०—इन आठो कर्मोंकी सामान्य जानकारी दो ?

उ०—ज्ञानवरणीयकर्म आत्माकी ज्ञान सम्बन्धी अनन्त शक्तिका आच्छादन करता है। दर्शनावरणीय आत्माकी अनन्त दर्शन शक्तिका आच्छादन करता है। देहके निमित्तसे साता और असाता इन दो प्रकारके वेदनीय कर्मोसे अव्याबाधसुखरूप आत्माकी शक्ति रुकी रहती है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। मोहनीय कर्मसे आत्मचारित्ररूप शक्ति रुकी हुई है। नामकर्मसे अमूर्तिरूप दिव्यशक्ति रुकी हुई है। गोत्रकर्मसे अटल अवगाहनारूप आत्मिकशक्ति रुकी हुई है। आयुकर्मसे अक्षय स्थिति गुण रुका हुआ है। अन्तराय कर्मसे अनन्तदान, लाभ, वीर्य, भोग और उपभोग शक्ति रुकी हुई है।

शिक्षापाठ १०३ : विविध प्रश्न—भाग २

प्र०—इन कर्मोके क्षय होनेसे आत्मा कहाँ जाता है ?

उ०—अनन्त और शाश्वत मोक्षमे।

प्र०—क्या पहले कभी इस आत्माका मोक्ष हुआ है ?

उ०—नही।

प्र०—कारण ?

उ०—मोक्ष प्राप्त आत्मा कर्ममल रहित होता है इसलिए उसका पुनर्जन्म नही होता।

प्र०— केवलीके क्या लक्षण हैं ?

उ०—चार घनघाती कर्मोका क्षय और शेष चार कर्मोंको

कृश करके जो पुरुष त्रयोदश गुण स्थानकवर्ती होकर विहार करते है, वे केवली हैं।

प्र०—गुणस्थानक कितने है ?

उ०—चौदह।

प्र०—उनके नाम कहो।

उ०—१ मिथ्यात्वगुणस्थानक। २ सास्वादन गुणस्थानक। ३. मिश्रगुणस्थानक। ४ अविरतिसम्यग्दृष्टि गुणस्थानक ५ देश-विरति गुणस्थानक। ६ प्रमत्तसयत गुणस्थानक। ७ अप्रमत्तसयत गुणस्थानक। ८. अपूर्वकरण गुणस्थानक। ९. अनिवृत्तिबादर गुणस्थानक। १० सूक्ष्मसापराय गुणस्थानक। ११ उपशातमोह गुणस्थानक। १२ क्षीणमोह गुणस्थानक। १३. सयोगकेवली गुणस्थानक। १४ अयोगकेवली गुणस्थानक।

शिक्षापाठ १०४ : विविध प्रश्न—भाग ३

प्र०—केवली तथा तीर्थंकरमे क्या अन्तर है ?

उ०—केवली तथा तीर्थंकर शक्तिमे समान है परन्तु तीर्थंकरने पहले तीर्थंकरनामकर्मका बध किया है', इसलिए वे विशेषरूपसे बारह गुण और अनेक अतिशयोको प्राप्त करते है।

प्र०—तीर्थंकर घूम-घूमकर उपदेश क्यों देते हैं। वे तो वीत-रागी है।

उ०—पूर्वमे बाँधे हुए तीर्थकरनामकर्मके वेदन करनेके लिए उन्हे अवश्य ऐसा करना पडता है।

प्र०—वर्तमानमे प्रवर्तमान शासन किसका है ?

उ०—श्रमण भगवान् महावीरका।

प्र०—क्या महावीरसे पहले जैनदर्शन था ?

उ०—हाँ, था।

प्र०—उसे किसने उत्पन्न किया था ?

उ०—उनके पहलेके तीर्थंकरोंने ।

प्र०—उनके और महावीरके उपदेशमे क्या कोई भिन्नता है ?

उ०—तत्त्व स्वरूपसे एक ही है। विभिन्न पात्रोको लेकर उनका उपदेश होनेसे और कुछ कालभेद होनेके कारण सामान्य मनुष्यको भिन्नता अवश्य मालूम होती है। परन्तु न्यायसे देखनेपर उसमे कोई भिन्नता नही है ।

प्र०—उनका मुख्य उपदेश क्या है ?

उ०—उनका उपदेश यह है कि आत्माका उद्धार करो, आत्माकी अनन्त शक्तियोका प्रकाश करो और इसे कर्मरूप अनन्त दु खसे मुक्त करो ।

प्र०—इसके लिए उन्होने कौनसे साधन बताए हैं ?

उ०—व्यवहारनयसे सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरुका स्वरूप जानना, सद्देवका गुणगान करना, त्रिविध धर्मका आचरण करना, और निर्ग्रंथगुरुसे धर्मका स्वरूप समझना ।

प्र०—त्रिविध धर्म कौनसा है ?

उ०—सम्यग्ज्ञानरूप, सम्यग्दर्शनरूप और सम्यक्चारित्ररूप ।

शिक्षापाठ १०५ : विविध प्रश्न—भाग ४

प्र०—जबकि ऐसा जैनदर्शन सर्वोत्तम है तो सर्वजीव इसके उपदेशको क्यो नही मानते ?

उ०—कर्मकी बहुलतासे, मिथ्यात्वके जमे हुए पटलसे और सत्समागमके अभावसे ।

प्र०—जैनमुनियोंके मुख्य आचार क्या हैं ?

उ०—पाँच महाव्रत, दश प्रकारका यतिधर्म, सत्रह प्रकारका सयम, दस प्रकारका वैयावृत्य, नव प्रकारका ब्रह्मचर्य, बारह प्रकारका तप, क्रोध आदि चार प्रकारकी कषायोका निग्रह और

इनके अतिरिक्त ज्ञान, दर्शन तथा चरित्रका आराधन, इत्यादि अनेक भेद हैं।

प्र०—जैन मुनियोंके समान ही सन्यासियोंके पाँच याम हैं, बौद्धधर्मके पाँच महाशील है, इसलिए इस आचारमे तो जैनमुनि, सन्यासी तथा बौद्धमुनि एकसे है न ?

उ०—नही।

प्र०—क्यो नही ?

उ०—इनके पचयाम और पाँच महाशील अपूर्ण हैं। जैन-दर्शनमे महाव्रतके प्रतिभेद अतिसूक्ष्म है। उन दोनोंके स्थूल है।

प्र०—इसकी सूक्ष्मता दिखानेके लिये कोई दृष्टान्त दीजिए ?

उ०—दृष्टान्त स्पष्ट है। पचयामी कदमूल आदि अभक्ष्य खाते है, सुखशय्यामे सोते हैं, विविध प्रकारके वाहन और पुष्पोका उपभोग करते हैं। केवल शीतल जलसे अपना व्यवहार चलाते हैं। रात्रिमे भोजन करते है। इसमे होनेवाला असंख्याती जीवोंका नाश, ब्रह्मचर्यका भग इत्यादिकी सूक्ष्मताको वे नही जानते। तथा बौद्ध-मुनि माँस आदि अभक्ष्य और सुखशील साधनोंसे युक्त है। जैन-मुनि तो इनसे सर्वथा विरक्त है।

शिक्षापाठ १०६ : विविध प्रश्न—भाग ५

प्र०—वेद और जैनदर्शनके बीच प्रतिपक्षता है क्या ?

उ०—जैनदर्शनकी किसी विरोधीभावसे प्रतिपक्षता नही है, परन्तु जैसे सत्यका असत्य प्रतिपक्षी गिना जाता है, उसी प्रकार जैनदर्शनके साथ वेदका सम्बन्ध है।

प्र०—इन दोनोंमे आप किसे सत्य कहते है ?

उ०—पवित्र जैनदर्शनको।

प्र०—वेद-दर्शनवाले वेदको सत्य बताते हैं। उसका क्या ?

उ०—यह तो मतभेद और जैनदर्शनके तिरस्कारके लिए है, परन्तु आप न्यायपूर्वक दोनोंके मूल तत्त्वोको देखें।

प्र०—इतना तो मुझे भी लगता है कि महावीर आदि जिनेश्वरो-का कथन न्यायकी तुलापर सही है। परन्तु वे जगत्के कर्ताका निषेध करते हैं, और जगत्को अनादि अनत कहते हैं। इस विषयमे कुछ-कुछ शका होती है कि यह असख्यात् द्वीप-समुद्रसे युक्त जगत् विना वनाये कहाँसे आ गया ?

उ०—हमे जबतक आत्माकी अनन्त शक्तिकी लेशभर भी दिव्य प्रसादी नही मिलती तभी तक ऐसा लगा करता है, परन्तु तत्त्व-ज्ञान होनेपर ऐसा नही लगेगा। 'सन्मतितर्क' ग्रन्थका आप अनुभव करेंगे तो यह शका दूर हो जायेगी।

प्र०—परन्तु समर्थ विद्वान् अपनी मिथ्या बातको भी दृष्टान्त आदिसे सैद्धान्तिक कर देते हैं इसलिए यह खण्डित नही हो सकती परन्तु इसे सत्य कैसे कह सकते हैं ?

उ०—किन्तु इन्हे मिथ्या कहनेका कुछ भी प्रयोजन नही था, और फिर यदि थोडी देरके लिए ऐसा मान भी ले कि हमे ऐसी शका हुई कि यह कथन मिथ्या होगा, तो फिर जगत्कर्त्ताने ऐसे पुरुषको जन्म भी क्यो दिया ? ऐसे नाम डुवानेवाले पुत्रको जन्म देनेकी उसे क्या आवश्यकता थी ? तथा ये पुरुष तो सर्वज्ञ थे, यदि जगत्का कर्त्ता सिद्ध होता तो ऐसा कहनेमे उनकी कुछ हानि नही थी।

शिक्षापाठ १०७ : जिनेश्वरकी वाणी

(मनहर छन्द)

अनत अनंत भाव भेदथी भरेली भली,
अनत अनंत नय निक्षेपे व्याख्यानी छे;

सकल जगत हितकारिणी हारिणी मोह,
तारिणी भवाब्धि मोक्षचारिणी प्रमाणी छे;
उपमा आप्यानी जेने तमा राखवी ते व्यर्थ,
आपवाथी निज मति मपाई मे मानी छे;
अहो ! राजचन्द्र, बाळ ख्याल नथी पामता ए,
जिनेश्वरतणी वाणी जाणी तेणे जाणी छे ॥ १ ॥

जो अनंतानंत भाव-भेदोंसे भरी हुई है, अनतानत नय-निक्षेपोसे जिसकी व्याख्याकी गई है, जो सम्पूर्ण जगत्का हित करनेवाली है, मोहको हटानेवाली है, ससार-समुद्रसे पार करनेवाली है, जो मोक्षमे पहुँचानेवाली है, जिसे उपमा देनेकी इच्छा रखना भी व्यर्थ है, जिसे उपमा देना मानो अपनी बुद्धिका माप दे देना है ऐसा मै मानता हूँ। अहो राजचन्द्र! इस बातको बाल मनुष्य ध्यानमे नही लाते कि ऐसी जिनेश्वरकी वाणीको जो जानते हैं वे ही जानते हैं।

शिक्षापाठ १०८ : पूर्णमालिका मंगल

(उपजाति)

तपोपध्याने रविरूप थाय,
ए साधीने सोम रही सुहाय;
महान ते मंगळ पंक्ति पामे,
आवे पछी ते बुधना प्रणामे ॥ १ ॥
निर्ग्रन्थ ज्ञाता गुरु सिद्धि दाता,
कां तो स्वयं शुक्र प्रपूर्ण ख्याता;
त्रियोग त्यां केवळ मंद पामे,
स्वरूप सिद्धे विचरी विरामे ॥ २ ॥

जो तप और ध्यानसे रविरूप होता है, उनकी सिद्धि करके सोमरूपसे शोभित होता है। तथा वह महामगलकी पदवी प्राप्त करता है तब वह बुधको प्रणाम करनेके लिए आता है। तत्पश्चात् वह सिद्धिदायक निग्रंथ गुरु अथवा पूर्ण व्याख्याता स्वय शुक्रका ख्यातिपूर्ण स्थान ग्रहण करता है। उस दशामे तीनो योग सम्पूर्ण मद पड जाते हैं, और आत्मा स्वरूप-सिद्धिमे विचरता हुआ विश्राम-को प्राप्त होता है।

●